साहित्य का स्वरूप

डा. ब्रजलाल गोस्वामी

साहित्य संगम

लुधियाना

साहित्य का स्वरूप

साहित्य का स्वरूप

डा. ब्रजलाल गोस्वामी
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
गवर्नमिण्ट कॉलिज, लुधियाना

साहित्य संगम
लुधियाना

लेखक
डॉ. ब्रजलाल गोस्वामी
एम. ए; पी. एच. डी.

*

मुद्रक :
स : जीवन सिंह एम. ए.
लाहौर आर्ट प्रेस, कॉलेज रोड
सिविल लाइनज़ लुधियाना

*

प्रकाशक :
साहित्य संगम
लुधियाना

मूल्य ६.२५

आमुख

प्रस्तुत पुस्तक में साहित्य से सम्बद्ध कुच्छ समस्याओं पर विचार किया गया है। प्रश्न पुराने हैं परन्तु मानव जीवन के सनातन प्रश्नों—जीवन का क्या स्वरूप है ? इस का लक्ष्य क्या है ? जगत् का मूल तत्त्व क्या है—के समान इनका समाधान प्रत्येक युग को ही नहीं प्रत्येक व्युत्पन्न-मति व्यक्ति को स्वयं करना पड़ता है। किसी भी सभ्य जाति की सांस्कृतिक परंपरा में साहित्य विशिष्ट स्थान रखता है। इस में जाति के मनीषियों और कवियों की अतन्द्र चेतना वपुष्मती हो उठती है। यह जातीय जीवन के उन प्रशस्त और उज्ज्वल क्षणों का स्मारक है जिस में उस के मनीषी जीवन की गहराई और ऊँचाई दोनों का साक्षात्कार करते हैं। कोई भी जाति उसी साहित्य को सुरक्षित रखेगी जो उस के अशेष मानस-बौद्धिक दायाद्य को सुरक्षित रखेगा। परन्तु जहां साहित्य विद्यालयों, धर्म-स्थानों और विधान-सभाओं के समान एक संस्था है और संस्था के रूप में सभ्य व्यक्ति के जीवन का

नियामक है वहां वह संस्कृत व्यक्तित्व का निर्माता भी है। साहित्यकार स्रष्टा है—इस का अर्थ यह है कि वह जगत् को अपने मानस में प्रतिबिम्बित ही नहीं करता, उसे नया रूप भी देता है। यह नव-निर्माण साहित्यकार की भावना के द्वारा होता है और इस भावना के मूल में उस की पुरुषार्थ अथवा मूल्य संबन्धी चेतना रहती है। हमारे लिए वही 'वास्तव' अथवा मूल्यवान् है जिस का हम भावन कर सकते हैं, चेतना जिस का बारम्बार ध्यान करके नन्दित होती है।

परन्तु साहित्य केवल साहित्यकार की ही नहीं सहृदय की भी सृष्टि है। भावना-शक्ति के बिना साहित्यकार की अनुभूति न तो साकार होती है और न ही सहृदय द्वारा आस्वाद्य बनती है। यह भावना अथवा कल्पना-शक्ति ही इस यान्त्रिक युग में कुण्ठित हो रही है। साहित्य में मानव की उस समग्र चेतना के दर्शन दुर्लभ हो गए हैं जिस के अन्तर्गत विश्लेषणात्मक बुद्धि की उपलब्धियां ही नहीं भावना और प्रज्ञा के व्यापार भी हैं।

इस केन्द्रस्थ भावना शक्ति के अवसाद से केवल साहित्य को ही क्षति नहीं पहुंचती, जीवन भी दरिद्र हो जाता है। यह समझना भ्रम है कि केवल साहित्यकार के लिए ही यह भावना-शक्ति अपेक्षित है। साधारण वैज्ञानिक बहिर्मुख व्यक्ति को ही यथार्थवादी मानता है। इस दृष्टि से यथार्थवाद के प्रशस्यतम उदाहरण तो व्यापारियों और पहलवानों में ही ढूंढने पड़ेंगे। वस्तुतः घटना को घटित होते देखना एक बात है, उस की अनुभूति दूसरी बात। युद्ध में भाग लेने वाला सैनिक युद्ध की वास्तविक अनुभूति से वञ्चित रह सकता है और भावना-सम्पन्न व्यक्ति उस

के संबन्ध में थोड़ा सा विवरण पढ़ कर अथवा सुन कर उस की 'वास्तव' अनुभूति प्राप्त कर सकता है। व्यावहारिक जीवन की अनुभूति भी उसी को होती है जो थोड़ी बहुत कल्पना-शक्ति रखता है। अनुभव एक के बाद दूसरे व्यापार का प्रत्यक्ष होना ही नहीं—इस में अनिवार्यतः 'द्रष्टा' के अपने संस्कार मिले रहते हैं। जब 'बाह्य व्यापार' और संस्कार का सम्मिलन विशिष्ट मूल्यों के आलोक में होता है तभी साहित्य-सृजन सम्पन्न हो सकता है।

सृजनात्मक शक्ति के कुण्ठित होने के कारण ही हमारी मानव और साहित्य सम्बन्धी धारणाएँ अस्त व्यस्त हो गई हैं। यन्त्र सृजन का शत्रु है। ऐन्द्रिय संवेदना से प्राप्त होने वाले सुख में हम निष्क्रिय से होते हैं। हम उस सृजनात्मक आनन्द से अपरिचित हो गए हैं जो कलाओं को मनोरंजन के यान्त्रिक साधनों से अलग कर देता है। सृष्टि के पुष्कल प्रसार में यान्त्रिक सभ्यता के मूल्यों से शासित चेतना विस्मय के लिए कोई आलंबन नहीं ढूँढ सकती; दफ़्तर हैं, सड़कें हैं, बिजली की बत्तियां हैं, निरर्थक दौड़ लगाने वाले बादल हैं और तारों की फीकी, शून्य दृष्टि है। सब कुच्छ इतना स्पष्ट है! कवि निःसन्देह चेतोविप्लव का शिकार है!

इसका अर्थ यह नहीं कि यन्त्रों का बहिष्कार हो। यह न तो संभव है, न उचित। हमें केवल यन्त्र की सीमाओं को पहचानना चाहिए और सावधान रहना चाहिए कि इस की शक्ति मानव चेतना के उदात्त व्यापारों को अवसन्न तो नहीं कर रही।

साहित्य मनुष्य की सृजनात्मक चेतना को ही मूर्त्त

करता है। साहित्य के इस स्वरूप को समझ कर ही हम यान्त्रिकता के प्रतिकार के लिए उस का आवाहन कर सकते हैं। उत्तम साहित्य अपना रहस्य उस प्रत्येक व्यक्ति के सामने ही प्रगट नहीं कर देता जो वर्णमाला को जानता है। उत्तम साहित्य हमारी भावना को जागरण की प्रेरणा देता है। सहृदय को साहित्यकार की अनुभूति को आत्मसात् करना होता है। विज्ञान के प्रभाव के कारण हम यह समझे बैठे हैं कि जड़ तथ्यों के संकलन मात्र से, छन्दोविचिति से, अथवा साक्षरता मात्र से हम साहित्य के सफल अध्येता बन सकते हैं। साहित्य वह नहीं जो पढ़ा जाता है—साहित्य वह है जो भावित होता है। यह भावनशक्ति ही हमें व्यावहारिक जीवन में भी तामसता से बचाती हैं। इस शक्ति के कारण ही हम अपनी अहंता को—थोड़ी देर के लिए ही सही—छोड़ कर दूसरे पदार्थ अथवा प्राणी के साथ एकाकार होते हैं। प्रेम भी मूलतः कोई प्रवल मनोवेग नहीं—यह दूसरे के साथ तादात्म्य–लाभ की स्थिति है। यह भी भावन–शक्ति का व्यापार है, मनोवेग तो भावन के परिणाम हैं।

यह भावना का आनन्द ही साहित्य का मुख्य प्रयोजन है। साहित्यकार को यह उपदेश देने का कोई अर्थ नहीं कि वह 'अहं—केन्द्रित' न रह कर अमुक विषय पर कविता लिखे अथवा अमुक व्यक्ति अथवा वर्ग से सहानुभूति प्रगट करे। सृजन के क्षणों में प्रत्येक सफल साहित्यकार 'अहं' से मुक्त होता है—चाहे उस का विषय यह 'अहं' ही क्यों न हो। इस पर हम ने आगे सविस्तर विचार किया है।

जहां इस भावनात्मक आनन्द से भिन्न कोई इतर

प्रयोजन साहित्यिक कृति को प्रेरणा देता है—जैसे किसी मतवाद का प्रचार, किसी सिद्धान्त की स्थापना—वहां साहित्य की विशिष्टता लुप्त हो जाती है क्योंकि इन उद्देश्यों की प्राप्ति दूसरे साधनों से—भाषणों से, प्रचारात्मक लेखों से—भी हो सकती है । इस का यह अर्थ नहीं कि भावना को कर्म में परिणत नहीं होना चाहिए । परन्तु सहृदय कविता पढ़ते समय भावन-व्यापार में ही आनन्द लेता है । इसी भावन व्यापार में सफल होने से ही वह सहृदय बनता है-काव्य जगत् में प्रवेश करता है । प्रचारात्मक उपन्यास में साहित्य का शुद्ध स्वरूप नहीं मिलता क्योंकि वहां इस भावन व्यापार और भावनात्मक आनन्द के साथ साथ इतर उद्देश्य भी मिले रहते हैं जिनका संबन्ध उस व्यवहार जगत् से है जहां साध्य और साधन एक दूसरे से सर्वथा अलग रहते है । दूसरे उद्देश्य काव्य—जगत् से बहिष्कृत नहीं किए जा सकते—उन का अपना महत्त्व है परन्तु भावनात्मक आनन्द की तुलना में वे गौण है ।

इन्हीं धारणाओं को यहां पल्लवित किया गया है । यह जानने के लिए कि साहित्य क्या नहीं है, आधुनिक चेतना के अन्य व्यापारों और विधाओं के साथ इस के संबन्ध पर विचार किया गया है ।

पुस्तक के मुद्रण में मेरे शिष्य और लाहौर आर्ट प्रेस के मैनेजर श्री हज़ारा सिंह ने विशेष रुचि दिखाई है—वे धन्यवाद के पात्र हैं ।

गुरुपूर्णिमा, सं २०१८ — ब्रजलाल गोस्वामी
२७-७-६१

साहित्यकार की अनुभूति

(कल्पना अथवा भावना)

आधुनिक युग में प्रकाशित पुस्तकों की संख्या को देखते हुए साहित्य के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है। अगणित छापेखानों के द्वारा उद्‌गीर्ण अगणित नाटक, उपन्यास, कविता-संग्रह हमारे सामाजिक और मानसिक परिवेश में प्रवेश कर रहे हैं और उसे परिवर्तित कर रहे हैं। 'साहित्य' शब्द के निर्वचन से साहित्य के स्वरूप पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। यदि साहित्य के अन्तर्गत उन्हीं पुस्तकों को रखना अभिप्रेत है जो 'हित-विधायिनी' हैं तो स्थूल दृष्टि से मानव-हित की मीमांसा करने वाली और व्यावहारिक सफलता के सूत्रों को उपन्यस्त करने वाली पुस्तकों को बहिष्कृत करना कठिन हो जायगा। दूसरे इतिहासकार और इतिहास के प्रेमी के लिए इतिहास के ग्रन्थ और वैज्ञानिक के लिए विज्ञान की पुस्तकें स्पष्टतः हित-विधायक

हैं। हित शब्द भी अपने आप में भिन्न भिन्न लोगों के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के अनुभवों, लक्ष्यों और निष्पत्तियों का सूचक है। गणितज्ञ गणित की पुस्तकों के अनुशीलन से ही उस मानसिक समाधान और रस-दशा को प्राप्त करता है जो सहृदय को काव्य के अनुशीलन से प्रात होती है। फिर जो एक के लिए हितकारक है वह दूसरे के लिए अहित-जनक हो सकता है। भक्ति काव्य में मानव-प्रणय के क्षेत्र से लिए गए प्रतीकों के प्रयोग से हम परिचित हैं। इन प्रतीकों से अप्रौढ व्यक्ति भ्रान्त हो सकता है और कृष्ण अथवा राम के चरित्र को साधारण व्यक्तियों के चरित्र के समान काम और क्रोध से क्लिष्ट मान सकता है। भक्तों के लिए यही प्रतीक आनन्द के दोग्धा हैं। यदि साहित्य से तात्पर्य उस कृति से है जिस में शब्द और अर्थ 'स-हित'-सन्निहित-हों, तो यह निरुक्ति भ्रामक भी हो सकती है और आंशिक रूप में साहित्य के स्वरूप पर प्रकाश भी डाल सकती है। शब्द और अर्थ का साहचर्य तो भाषा-मात्र में है चाहे भाषा का प्रयोग साहित्यिक हो अथवा असाहित्यिक। यदि साहित्य की भाषा से अभिव्यक्ति की वह अवस्था अभिप्रेत है जिस में वाच्य और वाचक, व्यंग्य और व्यंजक-शब्द और अर्थ तुल्यकक्ष हों, परस्पर स्पर्धी हों, एक जैसी महत्ता रखते हों तो साहित्य का स्वरूप कुछ स्पष्ट हो जाता है। यह परिभाषा किस प्रकार इस दिशा में हमारी सहायता करती है—इस पर हम आगे विचार करेंगे।

साहित्य के स्वरूप पर तीन दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। साहित्यकार की दृष्टि से, अर्थात् उस विशिष्ट अनुभूति को समक्ष रख कर जो साहित्यिक कृति का बीज

है; अभिव्यक्ति के उस प्रकार की दृष्टि से जो अनुभूति को संवेद्य बनाता है, और उस सहृदय की दृष्टि से जो अनुभूति का आस्वादयिता है और हमें बतला सकता है कि बीज किस प्रकार के फल में परिणत हुआ है।

साहित्य के क्षेत्र में विषय और शैली के द्वैधीकरण से कई भ्रांतियां उत्पन्न हो सकती हैं। परन्तु यदि हम इस द्वैधीकरण की सीमाओं को—जिन की ओर हम निर्देश करेंगे—ध्यान में रखें—तो साहित्य के स्वरूप को समझने में हमें सहायता मिल सकती है।

पहले हम साहित्य-गत अनुभूति को लेंगे। वस्तुतः अनुभूति जीवन का ही दूसरा नाम है। अनुभूति की प्रक्रिया में एक ओर विषयी अथवा द्रष्टा रहता है दूसरी ओर विषय अथवा दृश्य। जाग्रत् अवस्था में विषयी और विषय का द्वैध अपरिहार्य है। इस अवस्था में एक ओर वह विषयी है जिसे किसी न किसी विषय का ज्ञान रहता है, दूसरी ओर वह पदार्थ जो विषयी की वृत्ति का आलंबन है, अर्थात् ज्ञेय है। मन जिस पदार्थ का तीव्र संवेग से भावन करता है उसी के आकार को प्राप्त होताहै (भावितं तीव्र संवेगादात्मना यत्तदेव स: (मुक्तिकोपनिषद २·५८) अर्थात् अनुभूति की तीव्रता का अर्थ है अनुभूत पदार्थ द्वारा मन का दृढ़ता से आकलन। जिस पदार्थ की हमें तीव्र अनुभूति होती है वह हमारे मनःप्रदेश को अधिकृत करके, अपने प्रात-द्वन्द्वियों—दूसरे विषयों अथवा छवियों—को निर्वासित कर देता है। इस प्रकार से अनुभूत पदार्थ के हाथ में मनःप्रदेश की राज्यसत्ता चाहे थोड़ी देर के लिए आए अथवा जीवन भर के लिए वह अपनी ईश्वरता को अक्षुण्ण रखना चाहता

है। एक विशिष्ट प्रकार की अनुभूति अथवा भावना की जीवन व्यापिनी तीव्रता कबीर, तुलसी मीरा आदि को जन्म देती है जिन के काव्य में एक ही विषय की अभिव्यक्ति है, एक परा कान्ति का ही विलास है। यही अनुभूति अथवा भावना उन की चेतना का निर्माण करने वाली है। जहां यह भावना-शक्ति लौकिक पदार्थों की विविधता में रमण करती हुई एक के बाद दूसरे के साथ तादात्म्य प्राप्त करती है वहां हम लौकिक काव्य की रंगीनी, बहुविधता, अनेक-रूपता को पाते हैं।

कोई भी पदार्थ-स्थूल अथवा सूक्ष्म-हमारी चेतना को अधिकृत कर सकता है। बाह्य आकाश की धुली हुई नीलिमा हो अथवा परिपूत मन का उज्ज्वल प्रसाद, देश व्यापी विप्लव हो अथवा किसी क्रान्तदर्शी की ऋतंभरा प्रज्ञा, मन के आगे क्षण भर के लिए घूमजाने वाली कोई कल्पना हो अथवा नेत्रों के सामने अपनी स्थूल और दयनीय वास्तविकता में विद्यमान भिखारी का नग्न शरीर, किसी व्यक्ति की करुण गाथा हो अथवा किसी समाज के उत्थान पतन का आख्यान—सभी अनुभूति के विषय बन सकते हैं। अनुभूति का अर्थ हैं इनके प्रति दिए गए ध्यान का सातत्य और वेग। परन्तु इतने से ही साहित्यकार की चेतना का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। ऊपर दिए गए पदार्थ और व्यापार साहित्यकार की चेतना के विषय भी बन सकते हैं और साधारण मनुष्य की चेतना के भी। इन्द्रिय-सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान दोनों दशाओं में एक जैसा है। राग आदि का संवेग, वृत्तियों का क्षोभ, मनोविकारों का उत्थान, साहित्यकार के मन में और साधारण व्यक्ति के हृदय में समान रूप से देखा जा सकता है। प्रश्न स्वाभाविक है—फिर साहित्यकार की चेतना की विशिष्टता किस बात में है?

साहित्यकार की विशिष्टता 'भावन व्यापार' में है। जीवन के विविध अनुभवों को वह भावना का विषय बना सकता है। साधारण व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं। साधारण व्यक्ति का दृष्टिकोण इतना अहंपरक और स्वार्थ-केन्द्रित होता है कि वह अपनी चेतना को किसी भी विषय में चिरकाल तक प्रतिष्ठित नहीं कर सकता। व्यावहारिक व्यक्ति की चेतना अपने स्वार्थ के लिए ही किसी विषय की ओर ध्यान देती है, उस में आसक्त होती है। उस की चेष्टा इष्ट से संयोग और अनिष्ट से वियोग के लिए होती है। ऐसा व्यक्ति भावना को जड़ता, मनोमान्द्य अथवा बौद्धिक विलासिता कह सकता है। वह भूल जाता है कि जीवन कर्म चक्र में चेतना के अनवरत पेषण का ही नाम नहीं। वह अवकाश में किसी अतीत मार्मिक अनुभूति को पुनरुज्जीवित कर के उस में लीन होने की चेष्टा कर सकता है परन्तु उस की यह समाधान की अवस्था चिरकाल तक नहीं रह सकती; इच्छाओं के वेगी प्रवाह इस निस्तरङ्ग अवस्था को क्षुब्ध कर देते हैं; उस को कुण्ठित भावना-शक्ति उस की प्रबल व्यवहार-चेतना के सामने निःसत्त्व है। उस के लिए जीवन एक के बाद दूसरे व्यापार का नाम है। उसकी अनुभूति को व्यावहारिक और साहित्यकार की अनुभूति को भावनात्मक कहा जा सकता है।

एक ही विषय को व्यावहारिक और भावनात्मक दोनों दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। इनके अतिरिक्त एक तीसरा बौद्धिक दृष्टिकोण भी है जिस में हम बुद्धि के द्वारा किसी विषय के स्वरूप का अनुसन्धान करते हैं, उस की सत्ता के सम्बन्ध में ऊहापोह करते हैं,

अनुभव समष्टि में उस का स्थान निश्चित करने की चेष्टा करते हैं। 'वन्दे मातरम्' अथवा 'जन गण मन' की ओर तीनों दृष्टिकोणों को अपनाया जा सकता है। जब हम किसी राष्ट्रीय गान का उपयोग राष्ट्र प्रेम के संचार अथवा सैनिकों को उत्तेजित करने के लिए करते हैं तो हमारा दृष्टिकोण व्यावहारिक होता है। जब हम उसके सौन्दर्य्य के उपादानों का विश्लेषण करते हैं, उस के छन्द, भाव, अभिव्यक्ति-कौशल के सम्बन्ध में विचार करते हैं तब हमारा दृष्टिकोण बौद्धिक होता है। परन्तु भावनात्मक दृष्टिकोण का स्वरूप इन से भिन्न है। जब हम किसी विषय का 'भावन' करते हैं तो हमारा उद्देश्य न तो उसे साधन बना कर उससे भिन्न किसी साध्य की प्राप्ति होता है और न ही उस के सम्वन्ध में बौद्धिक प्रश्नों का समाधान। साहित्यकार साहित्य सृजन के समय इस भावन व्यापार को रूप देता है। बाह्य और आन्तर जगत दोनों भावन व्यापार के विषय बन सकते हैं। बाह्य जगत्—सामाजिक, ऐतिहासिक और प्राकृत रूप और व्यापार—और आन्तर जगत्—धर्म, दर्शन और व्यक्तिगत भावों और विचारों का संसार—दोनों का विषयीकरण हो सकता है। जब इनका विषयीकरण भावना के स्तर पर होता है तो मानस-जगत् की छबियों, स्मृतियों के समृद्ध कोष से सम्बद्ध, सगोत्र अथवा अनुगुण धर्मों को अपनी ओर खींच कर ये नूतन रूपों को ग्रहण करते हैं जिन में लीन होने से हमें सौन्दर्य्यानुभूति का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है। व्यवहार के स्तर पर विषय हमारा साधन है—अपने से इतर लक्ष्य की सिद्धि के लिए। जब चित्तवृत्ति विषय में ही रमण करने लगती है, उस के विविध धर्मों, आभासों और रूपों से भिन्न किसी प्राप्तव्य की ओर अग्रसर

नहीं होती तब हमें साहित्यकार की चेतना का साक्षात्कार होता है । इसी लिए अत्यधिक भावावेश से विह्वल मन साहित्य-सृजन नहीं कर सकता । यह वह दशा है जब भावावेश हमारे मन का स्वामी है, हम उसके स्वामी नहीं। जब हम भावावेश का भावन करते हैं तब हम उस के स्वामी बनते हैं । ऐसी अवस्था में यह आवेश प्रमथनशील न रह कर उसी प्रकार हमारे लिये 'दृश्य' हो जाता है जिस प्रकार कोई प्राकृत रूप अथवा जगत् का कोई अन्य मनोरम व्यापार जिस की ओर ध्यान देकर हमें आनन्द की प्राप्ति होती है ।

साहित्य में अनुभूति की तीव्रता का क्या अर्थ है ? जीवन में साधारणतया अनुभूति की तीव्रता का अर्थ है किसी प्रमथनशील भाव का वेग, आवेश का उफान, ऐसा प्रबल चेतोविकार जो चेतना को छा ले । परन्तु साहित्यकार में और इतर जन में यह अन्तर है कि वहा उन्माथी भाव और आवेग जो दूसरां को झकझोर देते हैं साहित्यकार की भावना के विषय बन जाते हैं। इन आवेगों का अनुभव करनी हुई भी साहित्यिक चेतना इनके दुर्दम प्रवाह में बह नहीं जाती ।

इलियट की प्रसिद्ध उक्ति है कि काव्य में हम आवेग को अभिव्यक्ति नहीं देते उस से मुक्ति पाते हैं । इस उक्ति का अर्थ यहां स्पष्ट हो जाता है । साहित्य-कार का मन कोई निश्चेष्ट जड़ बर्तन नहीं जिसमें आवेग पिघली हुई धातु के समान डाल दिए जाते हैं; वह उन आवेगों का नियामक, संधाता और भावयिता है । अपनी आवेगशील अवस्था को हम शारीरिक चेष्टा, प्रलाप, आर्त पुकार, प्रणय-तरल सम्बोधन आदि के द्वारा कई प्रकार

से अभिव्यक्त करते हैं, परन्तु यह अभिव्यक्ति कलात्मक अभिव्यक्ति से भिन्न है। प्रत्यक्ष रूप में तो इस को भिन्नता का आधार भाषा की वह भंगी है जिसे हम साहित्यिक कहते है (इस पर हम आगे विचार करेंगे) परन्तु साहित्यिक भाषा के मूल में जो मनोदशा है उसका ज्ञान आवश्यक है। आवेग मात्र से साहित्य और कला का काम नहीं चलता और न ही आवेग अपने आप में सुन्दर होते हैं। आवेग तो साहित्यकार का उपादान मात्र है। आवेग की दुर्धर्षता साहित्यकार की महत्ता का प्रमाण नहीं है। सात्यिकार आवेगों का अनुभव करता है, दूसरे मनुष्य भी करते हैं। परन्तु साहित्यकार की विशिष्टता इस में है कि वह सृजन के समय आवेग पर सवार है। दूसरे अर्थों में भावना की रश्मि से वह आवेग का नियन्त्रण कर रहा है। भावित आवेग और स्थूल वास्तविकता में विद्यमान आवेग में अन्तर है। स्थूल आवेग की परिणति कर्म मैं होती है, वह किसी प्रकार की बाह्य चेष्टा की आकांक्षा रखता है और इस आकांक्षा के पूर्ण न होने पर चित्त में अवसाद, ग्लानि, खेद आदि को जन्म देता है। इसके विरुद्ध भावित आवेग की अवस्था में चित्त पुरोवर्त्ती विषय की भावना को छोड़ कर और सब प्रकार के विक्षेप से मुक्त हो जाता है और कर्मोन्मुख होने के लिए बाधित नहीं किया जा सकता।

भावित पदार्थ किसी लौकिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उपकरण मात्र नहीं। व्यवहार-निपुण मनुष्य पदार्थों से धन, प्रतिष्ठा, स्थूल वासनाओं की तृप्ति चाहता है परन्तु भावयिता उन पदार्थों में ही आनन्द लेता है। पदार्थ उसके

लिए इसलिए मूल्य नहीं रखते कि वे उसकी लौकिक स्थिति के परिचायक, साधक अथवा उसके गौरव और शक्ति के प्रतीक हैं। वस्तुतः चर्म चक्षुओं के लिए एक होता हुआ भी वैज्ञानिक अथवा वैद्य-चिकित्सक के द्वारा देखा गया फूल वही फूल नहीं जिसे हम भावना के नेत्रों से देखते हैं। भावन बौद्धिक विश्लेषण से भिन्न कोटि का व्यापार है। कविता के छन्द, तुक आदि की विश्लेषणात्मक मीमांसा करना उसी प्रकार का व्यापार है जैसे फूल के नाम, जाति, धर्म और उपयोगिता का विवरण देना। आजकल हिन्दी कवियों के सम्बन्ध में इस प्रकार की आलोचनाएँ जिन में वैज्ञानिक सूक्ष्मता के प्रदर्शन का प्रयास रहता है अकसर देखने में आती हैं परन्तु वे इस बात का प्रमाण नहीं कि आलोचक भावन व्यापार में सफल रहा है, जिस प्रकार यह आवश्यक नहीं कि फूल के सम्बन्ध में समग्र विवरण देनेवाला वनस्पति शास्त्री अथवा उसको औषध के लिए प्रयोग में लाने वाला वैद्य उसकी सुषमा में रमण करने की क्षमता भी रखता हो।

भावन व्यापार और सौन्दर्य्यानुभूति में उपाय और उपेय का संबन्ध नहीं। हम भावन व्यापार के द्वारा सौन्दर्य्य का साक्षात्कार नहीं करते। ये दोनों एक ही व्यापार के दो नाम हैं, अथवा दो रूप। स्थूल अथवा सूक्ष्म व्यापार के सिकता कण को भावयिता अपने आन्तरिक रस सेक से कलात्मक अनुभूति की मुक्ता में बदल देता है। रस व्यापार के नैरन्तर्य्य में साधन और साध्य, मार्ग और गन्तव्य, कारण और कार्य्य के भेद का निर्देश नहीं किया जा सकता। इस में विषयी और विषय का भेद लुप्त होने लगता है। वह सुन्दरता जिस की अनुभूति भावयिता

को हो रही है न तो विषय में रहती है न विषयी में। विषय में इसलिए नहीं क्योंकि भावन व्यापार का विषय इस व्यापार से विरहित स्थूल विषय के साथ एकाकार नहीं। जैसा कि ऊपर कहा गया है कवि का फूल वनस्पति-शास्त्री के फूल से भिन्न है। वनस्पति शास्त्री का फ़ूल शुद्ध ऐन्द्रिय व्यापार से सत्ता में आता है, कवि का उस मनोव्यापार से जिस के पीछे स्मृतियों, संस्कारों, और सजातीय अनुभूतियों को उन्मीलित होती हुई शक्ति है। परन्तु यह व्यापार केवल विषयि-गत नहीं, केवल निरवलम्ब मनोव्यापार ही नहीं क्योंकि इसे विषय की आकांक्षा रहती हैं। विशिष्ट प्रकार के विषयी(भावयिता) और विशिष्ट प्रकार के विषय के मिलने से ही इस अनुभूति का जन्म होता है। वस्तुत: सब प्रकार के अनुभव में विषयी और विषय दोनों की संस्थिति आवश्यक है, वैज्ञानिक अनुभूति में भी और कलात्मक अनुभूति में भी। परन्तु विज्ञान में विषयी अपने संस्कारों को (जहां तक संभव है) निरस्त करके अस्तित्व लाभ करता है परन्तु भावन का अर्थ ही यह है कि पुरोवर्त्ती विषय (चाहे वह मानस हो या भौतिक) और हमारे संस्कारों में आदान-प्रदान हो रहा है। ऐसे भी विषयी हैं जो रंगशाला में जा कर भी दीवारों और स्तम्भों की भांति निस्पन्द रहते हैं। वहां विषयी में अपेक्षित संस्कारों का अभाव है; इसलिए नाटक दृग्गोचर व्यापारों के रूप में तो उसके लिए विद्यमान है परन्तु भावित विषय के रूप में नहीं। यही बात प्राकृत पदार्थों के सम्बन्ध में सत्य है। इन्द्रिय-गोचर धर्मों के समुच्चय के रूप में तो उन की सत्ता इन्द्रियवान् प्राणियों के लिए है। परन्तु भावना को

उद्बुद्ध करने की शक्ति, और भावना का विषय बन कर एक नूतन रूप ग्रहण करने की शक्ति उन में तभी आती हैं जब वह उपयुक्त संस्कारों से सम्पन्न मन के सम्पर्क में आते हैं।

सहृदय को काव्य में जिस कोटि की अनुभूति प्राप्त होती है उसी प्रकार की अनुभूति कवि को उस प्राकृत रूप अथवा व्यापार से प्राप्त होती है जो उसे प्रेरित कर रहा है। वह रूप अथवा व्यापार उसकी चेतना को समृद्ध करता है और उस की चेतना उस रूप और व्यापार को एक नूतन विभव से मण्डित कर देती है। रूप और चेतना एक दूसरे के साथ इस प्रकार घुल मिल जाते हैं कि विषयी और विषय के भेद का विलोप होने लगता है। ऐसी अनुभूति के सबन्ध में यह कहना कि कवि रूप और व्यापार का भावन कर रहा हैं उतना ही सार्थक है जितना कि यह कहना कि वह अपनी चेतना की विभूतियों में ही रमण कर रहा है। एक कथन विषय-परक है दूसरा विषयि-परक। परन्तु अनुभूति के क्षणों में इस भेद के विलीन होने अथवा अप्रतीत होने के कारण दोनों ही ठीक हैं।

यहां भावना और भावन व्यापार पर थोड़ा सा विचार कर लेना चाहिए। राजशेखर ने कवि और भावक में अन्तर माना है। परन्तु उनकी प्रकृति में आत्यन्तिक भेद मानना तो स्पष्टतः असंगत है। भावक आस्वादयिता भी है और आलोचक भी। कवि को सृजन के क्षणों में यदि कवि कहा जाय तो अपनी ही कविता को पढ़ते समय वह भी भावक है और उस कविता के सम्बन्ध में उस का मत किसी दूसरे सहृदय भावक से अधिक महत्व

नहीं रखता। फिर यह भी स्पष्ट है कि आलोचक की तरह साहित्य स्रष्टा भी अपनी अनुभूति के द्वारा जीवन का मूल्याङ्कन कर रहा है। वह जिस रूप अथवा व्यापार में रमण कर रहा है वह स्पष्टतः उस के लिए इतर असंख्य रूपों और व्यापारों से (जिन में वह उस समय रमण कर सकता है) अधिक मूल्यवान् है। अतः आलोचक जहां साहित्य की आलोचना (भावना) करता है वहां स्रष्टा जीवन अथवा अनुभूति की। परन्तु जीवन के व्यापक रूप में साहित्य भी समाविष्ट है। अतः भावक शब्द को हम ने जो व्यापक अर्थ दिया है उस के सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यहां हम कवि की अनुभूति पर और उस अनुभूति और निष्पन्न साहित्यिक कृति के सम्बन्ध पर विचार कर रहे हैं। कवि के लिए यह आवश्यक नहीं कि कविता करते समय वह पुलकायमान हो, अथवा चित्त के उद्वेलन का अनुभव कर रहा हो। अनुभूति चाहे कवि के देश-काल-संबद्ध लौकिक जीवन चरित से सम्बन्ध रखती हो अथवा उसकी चेतना में उस का स्फुरण मात्र हुआ हो। आवश्यक यह है कि इस अनुभति ने भावना का रूप धारण कर लिया हो। भावक और भावना शब्दों के निरुक्ति परक अर्थों पर विचार करने से पता चलता है कि कवि की अनुभूति और सृजन के मनोविज्ञान के सन्दर्भ में इन का प्रयोग बड़ा सार्थक है।

भवन (Becoming) 'जातमात्र' का धर्म है। हम किसी नदी मे दो बार प्रवेश नहीं कर सकते, क्योंकि जब हम दूसरे ही क्षण दूसरी बार नदी में प्रवेश करते हैं उस का रूप बदल गया होता है। भवन के सातत्य का कभी बाध नहीं होता। सभी पदार्थों के सम्बन्ध में यह बात कही

जा सकती है। भवन वह अनवरत व्यापार है जो काल के प्रवाह के कारण ही होता रहता है। अखिल सृष्टि उसका विषय है। भावन में मनुष्य को संकल्प-शक्ति इस व्यापार के निरुद्देश्य नैरन्तर्य की दिशा का ज्ञान देती है। अपने मन में ही देखने से हमें इसके रूप का कुछ पता चल सकता है। मन क्षण मात्र भी 'अकर्मकृत् नहीं रहता। जाग्रत् अवस्था में वहां कुछ न कुछ होता ही रहता है। यदि हम निश्चेष्ट होकर मन के रूप को और देखें तो पता चलता है कि यह स्मृतियों, आशाओं, अनेकविध धारणाओं, विचारों, कल्पनाओं का अविच्छिन्न प्रवाह है। इन अनेक विध मानस धर्मों का स्वतः ही निमग्न, उन्मग्न होना, चेतन मन के प्रकाश में आना और फिर अचेतन में लीन हो जाना, मन का भवन है। मन के इस भवन और स्वप्न दर्शन में विशेष भेद नहीं। किसी लौकिक लक्ष्य की प्राप्ति की चेष्टा से, किसी समस्या की मीमांसा से, अथवा किसी रमणीय पदार्थ या व्यापार में लीन होने से यह भवन रूप बदलता है। मन की निरर्थक गतिशीलता सोद्देश्य हो जाती है। हमें यहां रमणीयता की अनुभूति को ही भावना नाम देना अभीष्ट है क्योंकि न तो कर्मी कर्म करते समय और न ही दार्शनिक बौद्धिक विश्लेषण करते समय भावन-व्यापार का भाजन कहला सकता है। जिसमें रमण किया जाय वही रमणीय है। एक ही रूप की विविध विधाओं, और भंगिमाओं को चेतना के समक्ष रख कर उन में बारम्बार तन्मय होना ही भावन है। यदि इसे क्रिया कहना है तो मानना पड़ेगा कि यह विलक्षण प्रकार की क्रिया है। यह क्रिया क्रिया के लिए ही है, इस में साधन, साध्य का भेद नहीं।

कोई भी भावन मात्र से "कविनामभाक्" नहीं बनता, परन्तु इस के बिना भी साहित्य सृजन की चेष्टा व्यर्थ है। यहां 'भावन' शब्द की समीचीनता और भी स्पष्ट हो जाती है। कवि भावयिता भी है और स्रष्टा भी। भावन शब्द का प्रयोग ऊपर दिए गए अर्थों के अतिरिक्त, उत्पादन, सृजन व्यापार के लिए भी होता है। यह सारा जगत् जिस परम पुरुष की भावना का मूर्त्त रूप है उसे 'भूत-भावन' कहा गया है। कवि जिस अर्थ में 'प्रजापति है' (अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः) है उस पर हम अभी विचार करेंगे। यहां यह कहना पर्याप्त है कि साहित्यकार के कृतित्व के दोनों रूपों अथवा चरणों - रमणीय पदार्थ —बाह्य अथवा मानस—में लीन होना और इस अनुभूति से प्रेरित हो साहित्य सृजन करना—इन दोनों व्यापारों की व्यंजना 'भावन' शब्द से होती है।

भावन के णिजन्त रूप से स्पष्ट है कि साहित्यकार आगन्तुक संवेदनाओं और प्रतीतियों को निष्क्रिय होकर ही हृदय में स्थान नहीं दे देता। इसीलिए उसकी अवस्था स्वप्न देखने वाले से भिन्न है। इस भावन से जिसमें कवि का ध्यान शिथिल नहीं हो पाता उद्भावन, सृजन चेष्टा का जन्म होता है। कोई भी वस्तु, व्यापार, दृश्य इस भावन-व्यापार का विषय बन सकता है। विचारों का अमूर्त्त जगत् जब इस का विषय बनता है तो दार्शनिक कविता का जन्म होता है। शर्त यही है कि भावन के विषय विशेष में हमारी वृत्तियां समाहित हो जाएँ। जैसा कि हमने ऊपर देखा है साहित्यकार की वृत्तियों को समाहित करने की शक्ति

गन्दी नालियों और झोपड़ियों में भी है और आकाशगङ्गा में भी। प्रश्न यह है कि वह सौन्दर्य कहां है जिस में कवि अथवा कलाकार की चेतना रमण करती है और जिसकी अनुभूति साहित्यिक कृति के मूल में है ? इस सौन्दर्य्य का क्या लक्षण है ? यदि पृथ्वी से लेकर आकाश तक और लम्पट की निर्बन्ध कामुकता से ले कर परा विद्या तक कोई भी पदार्थ, विचार अथवा व्यापार हमारी भावना का विषय बन सकता है तो यह कहना कठिन हो जाता है कि सौन्दर्य्य अमुक कोटि के रूपों और पदार्थों में ही मिल सकता है दूसरों में नहीं।

अध्यात्म-विद्या और उस से प्रेरित कला का अनुशीलन करने वालों के लिए सौन्दर्य्य की स्थिति का प्रश्न कठिन नहीं। जिस प्रकार सत्य सर्वव्यापी है उसी प्रकार शिव और सुन्दर भी। सत्य की खोज यदि बुद्धि करती है, शिव की नैतिक चेतना, तो सुन्दर की खोज हमारी भावना-शक्ति करती है। परन्तु जिस प्रकार सत्य, शिव और सुन्दर एक ही तत्त्व की तीन विधाएँ हैं उसी प्रकार बुद्धि, नैतिक चेतना और भावना एक ही चेतना के तीन रूप हैं। इन में से एक की 'वास्तव' प्राप्ति से दूसरे साथ चले आते हैं। कबीर सत्य प्राप्ति के अनन्तर जगत् में कहीं भी अशिव अथवा अनिष्ट को नहीं देखते।

रे मन जाहि जहां तोहि भावै, अब न कोई तेरे अंकुश लावै
जँह जँह जाइ तहां तह रामा हरि पदचीन्हि कियौ विसरामा

(कबीरग्रंथावली, पृष्ठ १३६)

ऐसे कृतप्रज्ञ के लिए जगत् का कोई भी पदार्थ स्खलन का कारण नहीं बन सकता। 'यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र

समाश्रय: ।" आवरण भंग होने पर मन के लिए प्रत्येक पदार्थ ब्रह्मसंस्पर्श का हेतु बन जाता है । इसी प्रकार कबीर सत्य और शिव को प्राप्ति कर लेने पर 'सुन्दर' से वञ्चित नहीं रह जाते 'खुले नैन हँसि हँसि पहचानौं सुन्दर रूप निहारौं ।"—सगुण वाद के पुरुषविध भगवान को न मानते हुए भी वे समस्त जगत् में किसी कान्तिमान् के दर्शन करते हुए मुस्करा उठते हैं । परमतत्व में इन तीनों "मूल्यों–" सत्य, शिव, सुन्दर-की संस्थिति है परन्तु लौकिक अनुभव में इन तीनों के अधिष्ठान भिन्न भिन्न हो सकते हैं। हम देखते हैं कि दार्शनिक कलाकार और नीति के पण्डित एक दूसरे की साधना के प्रति संशयालु रहते हैं । परन्तु इन तीनों के चरम ऐक्य को भुलाकर जो दूसरों की उपेक्षा कर के एक का अनुशीलन करता है उसे अपनी विशिष्ट साधना में भी सफलता नहीं मिल सकती ।

अध्यात्म-साधना करने वाले के लिए उस मनोदशा को प्राप्त करना कठिन नहीं जिसमें चारों ओर एक ही परम सौन्दर्य्य के सदातन लास के दर्शन होते हैं ।"जिस सिम्त नजर कर देखे हैं उस दिलबर की फुलवारी है" । ऐसी अवस्था में जगत के पदार्थों में विषमता का भान नहीं रहता । एक छोटी सी बूंद में भी यह सौन्दर्य्य उसी प्रकार अविकल रूप में विद्यमान है जैसे कि महान् समुद्र में । परन्तु अनुभूति की इस परा कोटि से विमुख अध्यात्म साधना की ओर न जाने वाले साहित्यकार को ओर भी देखा जाय तो हमें इस बात पर आश्चर्य होता है कि इस रमणीयता के दर्शन कहीं भी हो सकते हैं । जगत का कोई भी रूप और व्यापार—चाहे वह लौकिक दृष्टि से कुत्सित और अप्रिय क्यों न हो—किसी न किसी कलाकार में सौन्दर्य भावना को

जगा सकता है। प्रश्न यह है कि कवि अथवा कलाकार को प्राकृत रूप और व्यापार से प्राप्त होने वाली रमणीयता की अनुभूति में और कलाकृति के माध्यम से सहृदय में उन्मीलित होने वाली रमणीयता की अनुभूति में क्या अन्तर है? क्या प्राकृत रूप और व्यापार का सौन्दर्य जो साहित्यकार की अनुभूति का बीज है अथवा प्रस्थान बिन्दु है कलाकृति के सौन्दर्य्य से भिन्न है ?

हम ने देखा है कि प्रत्येक प्रकार की अनुभूति में एक ओर विषयी होता है दूसरी ओर विषय। विज्ञान के क्षेत्र में वैज्ञानिक विषयी है और उस का अनुसन्धेय क्षेत्र उस के व्यापार का विषय। विज्ञान का सत्य भी इस प्रकार सापेक्ष है। उसे वैज्ञानिक की पद्धति, योग्यता, साधनों की अपेक्षा है। लौकिक व्यवहार कविता, कला और दर्शन के सत्य भी इस प्रकार सापेक्ष हैं। चाहे मानस तथ्य हो चाहे भौतिक—दोनों में विषय-विषयी की द्वयी आवश्यक है। सौन्दरनन्द में अश्वघोष ने कहा है कि किसी कामिनी आदि के रूप को देखकर एक मनुष्य को राग का अनुभव होता है दूसरे को अपराग का, तीसरा मध्यस्थ रहता है चौथा उसे श्रेय में प्रतिबन्धक समझ कर घृणा का अनुभव करता है।

दृष्ट्वैकं रूपमन्यो हि रज्यतेऽन्यः प्रदुष्यति ।
कश्चिद् भवति मध्यस्थस्तत्रैवाऽन्यो घृणायते ॥

सौन्दरनन्द, XIII 52

इस लिए विषय का स्वरूप विषयी के व्यापार पर निर्भर रहता है। विषय अपने आप में कुछ भी हो वह ज्ञान अथवा भावना के क्षेत्र में आता है तो उस का "परिकल्प" होता है, और यह परिकल्प विषयी के

व्यापार, उसकी रुचि, योग्यता, संस्कार आदि पर आश्रित है। रुचि, योग्यता, संस्कार आदि के भेद के कारण फूल का जो रूप वनस्पति-शास्त्री को ज्ञात होता है कवि को नहीं। विषय का परिकल्प विज्ञान में भी होता है, लौकिक ज्ञान के धरातल पर भी और कलाओं के क्षेत्र में भी; परन्तु हमें यह भी याद रखना चाहिये कि विषय के साथ साथ विषयी का भी रूप बदलता है। एक ही मनुष्य वैज्ञानिक के रूप में भिन्न प्रकार की योग्यता को अभिव्यक्त कर रहा है और कवि के रूप में दूसरे प्रकार की। रूप, रंग, गन्ध इन्द्रिय रूपी अश्वों के विचरण के क्षेत्र हैं। जिस जगत् में नेत्र, कान और घ्राणेन्द्रिय का अभाव है वहां रूप, ध्वनि और गन्ध की सत्ता भी नहीं हो सकती। इसका यह अर्थ नहीं कि रूप, ध्वनि और गन्ध की सत्ता हमारी इद्रियों के कारण ही है। इस प्रकार का निष्कर्ष ऊपर के विवेचन से निकाला जा सकता है। हम कह सकते है कि प्रकृति के प्रांगण में लीलायित रूपों, रंगों और गन्धों—आकाश की नीलिमा, फूलों के हास, और भ्रमरावलि के किंकिणी-स्वर के हम ही विधाता हैं। परन्तु वह निष्कर्ष ठीक नहीं। ऐन्द्रिय गुणों की सत्ता न विषयी में है और न विषय में परन्तु इन दोनों के संगम में है, चाहे यह संगम बहिर्जगत् में हो चाहे अन्तर्जगत् में।

ऐन्द्रिय गुणों के समान ही सौन्दर्य्य की स्थिति न विषयी में है न विषय में परन्तु दोनों के सहवास से ही इस का जन्म होता है। ऐन्द्रिय गुण-रंग—एक विशिष्ट प्रकार के विषयी की अपेक्षा रखता है—जिस के पास नेत्र-शक्ति हो। सौन्दर्य्य की प्रतीति के लिए भी एक विशिष्ट

प्रकार के विषयी की आवश्यकता है—जिस के पास अनुकूल संस्कार हों। यहां पर प्राकृत सौन्दर्य्य और कलात्मक अथवा साहित्यिक सौन्दर्य्य की प्रतीति के स्वरूप पर विचार किया जा सकता है। सौन्दर्य्य की प्रतीति के लिए एक विशिष्ट प्रकार के विषयी की अपेक्षा है—यह उक्ति प्राकृत सौन्दर्य्य और कलात्मक सौन्दर्य्य दोनों पक्षों में ठीक है। यह समझना भूल है कि प्रकृति के सौन्दर्य्य के दर्शन तो आँखें खोलने से ही हो जाते हैं और कलात्मक सौन्दर्य्य का साक्षात्कार कला-कोविद का ही होता है। आँखें खोलने से तो रंग के ही दर्शन होते हैं सौन्दर्य्य के नहीं। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार की चेत:स्थिति की आवश्यकता कलाकृति में सौन्दर्य्य देखने के लिए है वैसी ही प्रकृति में भी सौन्दर्य्य देखने के लिए अपेक्षित है। यह आवश्यक नहीं कि संस्कृत व्याकरण का पारंगत पण्डित मेघदूत के सौन्दर्य्य में लीन हो सके। इसी प्रकार दृक्-शक्ति से संपन्न अर्थ-रत व्यवसायी भी प्राकृत सौन्दर्य्य को देखने में असमर्थ हो सकता है। जिस प्रकार सहृदय के मनो-व्यापार से जड़ अक्षरों का संघात (जो जड़ ध्वनियों का प्रतीक है) रस-सन्दोह बन जाता है उसी प्रकार संस्कारी कवि के साथ सम्पर्क में आकर वह प्रकृति जो असंस्कृत वणिग्वृत्ति के लिए रूपों, रंगों और ध्वनियों की सन्तति मात्र है, नवीन कान्ति से सम्पन्न हो जाती है। इस प्रकार साहित्यिक कृति के मूल में जो प्ररणा है वह उसी प्रकार के भावन व्यापार से उत्पन्न होती है जिस व्यापार से कलाकृति के समक्ष सहृदय के मन में सौन्दर्य्य चेतना का उदय होता है।

हम कह सकते हैं कि साहित्यकार की अनुभूति और

सहृदय की अनुभूति में अन्तर है। और अन्तर का कारण है दोनों के विषयों का वैषम्य । एक का विषय प्राकृत रूप और दृश्य है और दूसरे का विषय मनुष्य कृत रूप और व्यापार। इन दोनों के अन्तर पर हम आगे विचार करेंगे। परन्तु यहाँ यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि विषयों की विभिन्नता इस का कारण नहीं। यदि कलाकृति मनुष्य-कृत है तो प्रकृति का सौन्दर्य्य भी कवि के विशिष्ट-संस्कारों के कारण उत्पन्न हुआ है। दोनों के पीछे चेतना की वह शक्ति है जिसे कारयित्री भी कहा जा सकता है और भावयित्री भी। यह आक्षेप भी किया जा सकता है कि साहित्यिक कृति के माध्यम से सहृदय में जिस सौन्दर्य्य चेतना का उदय होता है उसमें बौद्धिक तत्वों का सम्मिलन भी रहता है क्योंकि शब्दों के अर्थ का और साहित्यकार के सांस्कृतिक परिवेश का ज्ञान विशिष्ट बौद्धिक स्तर की अपेक्षा रखता है। प्राकृत रूपों और व्यापारों में सौन्दर्य्य का दर्शन करने वाली चेतना का बौद्धिक पक्ष सक्रिय नहीं होता। परन्तु हम तो यहां कवि अथवा कलाकार की उस चेतःस्थिति पर विचार कर रहे हैं जब वह किसी प्राकृत रूप या व्यापार के सौन्दर्य्य में लीन होता है। भावन व्यापार के समय कौन सी छबियों का सन्तान अथवा किन मानस शक्तियों का उन्मेष उस व्यापार को समृद्ध कर रहा है—इस पर हम अभी विचार नहीं कर रहे। वस्तुतः जब प्रकृति के रूपों और व्यापारों को भी प्रस्थान-बिन्दु बना कर कवि की भावना चलती है तो हम यह नहीं कह सकते कि उसके मार्ग में पड़ने वाले अनुभव बौद्धिक तत्वों से सर्वथा रहित होते हैं। कमलासना सरस्वती के स्वरूप

को समझने के लिए अथवा वैदिक प्रतीकों का आनन्द लेने के लिए जिस बुद्धि को आवश्यकता है वह भाव से भावित होती है। इसी प्रकार जब कोई भक्त कवि मेघ और सौदामिनी के आलिङ्गन में श्याम-श्यामा की केलि को देखता है और इस अनुभूति को कविता में रूप देता है तो यह मानना पड़ेगा कि उस के मनोव्यापार में बौद्धिक चेतना घुली हुई है। कलात्मक सौन्दर्य्य के समान प्राकृत सौन्दर्य्य के आस्वाद में बुद्धि का सहयोग रह सकता है यद्यपि यह बुद्धि गणनात्मक अथवा विश्लेषणात्मक नहीं होती।

वस्तुतः कलाकृति और कवि अथवा कलाकार द्वारा अनुभूति प्रकृति के स्वरूप पर हम जितना अधिक विचार करते हैं उन के बीच की विभाजक रेखा अस्पष्ट पड़ती जाती है। कलाकृति प्रकृति बन जाती है और प्रकृति कलाकृति। कवि और अर्थ-रत व्यवसायी एक ही प्रकृति को नहीं देखते — यह हम ने ऊपर स्पष्ट करने की चेष्टा की है। कवि की प्रकृति और हमारी आँखों के समक्ष वितत 'वास्तव'' प्रकृति में बिम्ब-प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध नहीं होता। हम नहीं कह सकते कि इस — 'वास्तव' प्रकृति का ज्ञान किस को होता है। प्राकृत वन कई प्रकार के तथ्यों के संगम-स्थल का नाम है। जो उस वन को मिटा कर वहां नगर आदि बसाना चाहते हैं उनका अपना दृष्टिकोण है। उनके लिए वन एक प्रकार का तथ्य है, वनों के सरकारी कर्मचारी के लिए, उस से व्यावसायिक लाभ उठाने वाले व्यापारी के लिए, वनों का अनुसन्धान करने वाले वैज्ञानिक के लिए, उस में रहने वाले जन्तुओं के

लिए शिकारी के लिए, और उस के सौन्दर्य से नेत्रों और मन को आप्यायित करने वाले के लिए वही वन भिन्न भिन्न प्रकार के तथ्यों को प्रस्तुत करता है। इन बहुत से रूपों में से कवि जब 'अपने' वन का भावन करता तो उसे दूसरे प्रकार के तथ्यों का निराकरण भी करना पड़ता है। यदि वास्तव वन इन सब तथ्यों और दृष्टिकोणों का समूह है तो उन में से एक दृष्टिकोण की अपनाने वाले की प्रतीति 'समग्र' वन का प्रतिबिम्ब नहीं कहला सकती। भावन व्यापार में अपक्षेप और प्रक्षेप दोनों होते हैं—कुछ तत्वों का तिरस्कार किया जाता है कुछ का आरोप। कलाकृति का भी सम्बन्ध 'बाह्य वास्तव'' प्रकृति के साथ इसी प्रकार का है।

प्राकृत पदार्थ कलाकृति कैसे बनता है इस पर हम ने विचार कर लिया। अब देखना है कि कलाकृति कैसे प्राकृत पदार्थ बन जाती है। जो वस्तु ज्ञान अथवा भावगोचर है विषय है। समस्त विषय-जगत् का ही दूसरा नाम प्रकृति है। प्राचीनों के मत में इस का नाम अपरा प्रकृति है। अपरा प्रकृति कार्य है परा प्रकृति कारण। जब साहित्यकार की प्रेरणा मूर्त रूप धारण कर लेती है तो वह जगत् के दूसरे इन्द्रियगोचर पदार्थों के समान प्राकृत पदार्थ बन जाती है। प्राकृत पदार्थ तो वह पहले भी थी जब उस की सत्ता मनो जगत् में थी, अब वह स्थूल प्राकृतरूप धारण कर लेती है। जिस प्रकार साहित्यकार अपने पुरोवर्त्ती विषय—जगत् के पदार्थों से—झरनों, फूलों सामाजिक व्यापारों और विडंबनाओं—से प्रेरणा ग्रहण करता है उसी प्रकार उस कलाकृति से भी कर सकता है। इस प्रकार उस

साहित्य का निर्माण होता है जो कला और साहित्य के सौन्दर्य्य पर मुग्ध होने पर सत्ता लभा करता है। यहां हम फिर स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि सृजनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य का भेद इस दृष्टि से असमाधेय नहीं। आलोचनात्मक साहित्य भी सृजनात्मक है और इस के सृजन के पीछे किसी वरेण्य प्रतिभा अथवा रमणीय कलाकृति की प्रेरणा है।

कल्पना और भावना का जिन अर्थों में यहां प्रयोग किया जा रहा है उन्हें कुछ और स्पष्ट कर देना चाहिए। कल्पना का अथवा भावना का अनुभव ही साहित्य का उपजीव्य है उसी प्रकार जिस प्रकार वनस्पतियों का अनुसन्धान वनस्पति शास्त्र का अथवा अतीत में मानव और मानव समाज के कर्म-कलाप का विवरण इतिहास का। कल्पना और भावना में कोई आत्यन्तिक भेद नहीं। अपनी सफल प्रवृत्ति में दोनों एक ही मूल प्रेरणा की कम और अधिक परिणत अथवा उन्नत अवस्थाएं कहीं जा सकती हैं। साधारणतया कल्पना शब्द का प्रयोग सृजन के समय साहित्यकार अथवा कवि की मनोदशा के लिए किया जाता है। परन्तु साथ ही हमारी यह धारणा भी बन गई है कि कल्पना का विषय वास्तव नहीं, मनः प्रसूति मात्र है। साधारण व्यवहार में इस शब्द के प्रयोग से हमारा यही आशय रहता है कि कल्पना यथार्थ ज्ञान नहीं, इस में हम वस्तुओं के यथाभूत अस्तित्व पर अपने मानसगुणों का आरोप कर एक ऐसे आन्तर पदार्थ अथवा जगत का निर्माण कर लेते है जो हमारी इच्छाओं के अनुकूल तो हो सकता है परन्तु जिसे विश्व का सनातन विधान स्वीकार नहीं

करता। किसी को कल्पनाजीवी कहने से हमारा यही अभिप्राय रहता है कि संसार की ठोस और अपराजेय वास्तविकता के साथ संघर्ष करने में अपने आप को असमर्थ पाकर वह अन्तर्जगत् की मानस सन्तान से ही अपने आप को सफल गृही मान बैठता है। ध्यान के शिथिल होने पर अथवा अपेक्षित नियन्त्रण के अभाव में जब मनोधर्म—विविध प्रकार की स्मृतियां, आशाएं संकल्प-विकल्प—अन्तर्जगत् में बुद्बुदायित हो उठते हैं, अवचेतन से अकस्मात् उठ कर ऊपर आ जाते हैं और फिर लीन हो जाते हैं उस समय भी हम कहते हैं कि हम अपनी कल्पनाओं में ही खोए हुए हैं। कल्पना का प्रयोग इसलिए मन की उस अवस्था के लिए भी किया जाता है जब उस की वृत्तियां समाहित नहीं होतीं और स्मृतियों आशाओं का प्रजल्पन इसे अस्तव्यस्त रखता है। ध्यान की इस शिथिल अवस्था में मन स्वाराज्य से रहित होता है कभी कोई वृत्ति सिंहासनस्थ हो जाती है कभी कोई। ऐसी कल्पना की योगशास्त्र में निन्दा की गई है। इस प्रकार की कल्पनाओं को उछल कूद करते बन्दर से तुलना दी गई है। परन्तु साथ ही कल्पना का प्रयोग हम कवि कर्म-विधायिनी उस शक्ति के लिए भी करते हैं जो नव नवोन्मेषशालिनी है और जिसे वाग्भट ने प्रतिभा कहा है। "बुद्धि नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभां विदुः।" साहित्य में प्रतिष्ठित पारिभाषिक शब्दावली को अपदस्थ करना आसान काम नहीं और न ही ऐसा करना हमें अभीष्ट है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में रहस्यवाद, प्रगतिवाद आदि नाम उन धाराओं के सम्यग् ज्ञापन में असमर्थ होते हुए भी प्रचलित हो गए हैं—जनतन्त्र

में बहुमत द्वारा समर्थित शासन की तरह इन की आलोचना तो की जा सकती है परन्तु इन्हें अपदस्थ करना कठिन है। कल्पना के हम यहां वही अर्थ लेंगे जो साधारणतया लोक और आधुनिक साहित्य शास्त्र में प्रचलित हैं। सन्दर्भ से ही इस के अर्थ स्पष्ट हो जाएंगे। परन्तु कल्पना की निष्पन्न अवस्था को हम भावना का नाम देंगे। वस्तुतः भावना में विषय और विषयी की एकरसता ही भावना का मुख्य लक्षण है। अपने चित्त के स्वरूप पर विचार करने से हमें पता चलता है कि हम एक ही समय विषय के साथ तदाकार भी हो सकते हैं और इस तदाकारता के द्रष्टा भी बन सकते हैं। कल्पना में इस एकरूपता को प्राप्त करने का प्रयास है, भावना में इस प्रयास की पूर्ति। जिस प्रकार यात्री अपने गन्तव्य से चाहे पांच सौ मील दूर हो चाहे एक मील वह यात्री ही है उसी प्रकार कल्पना भी विषय और विषयी के इस अपृथग्—भाव की ओर प्रगति करती हुई जब तक अपने गन्तव्य तक नहीं पहुंचती हम उसे कल्पना ही कहेंगे। इसके विपरीत भावना से हमारा अभिप्राय केवल उन्हीं कृतियों से नहीं जिन में ध्यानयोग अपनी पराकाष्ठा को पहुंचा हुआ है और जिन में उदात्त तत्त्वों के साथ ही एकीकरण हुआ है। एकीकरण चाहे किसी ऐसे पदार्थ से भी हो जिसे हम व्यावहारिक दृष्टि से निकृष्ट कोटि का समझते हैं उस से प्रसूत कविता को हम भावना-जन्य ही कहेंगे। विषय के साथ यह एकरूपता थोड़े समय के लिए भी रह सकती है और चिरकाल तक भी। इस आधार पर भी 'रोमैण्टिक' और 'क्लासिकल' कवियों में भेद किया जा सकता है। रोमैण्टिक' चित्त के ऊर्म्मिल स्फुरणों के साथ तद्रूप होने में अधिक

सफल होता है । वाल्मीकि और व्यास एक महान् विषय जिस के लिए सतत जागरूक भावन की आवश्यकता है में तन्मय होने को क्षमता रखते हैं ।

भावना में 'आत्म-भावन' भी होता है। चेतना और विषय में अभेद की अनुभूति होती है । प्रेम आदि भावों का हम मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी कर सकते हैं, वहां विषयी (मनोविज्ञानवेत्ता) और विषय (प्रेम आदि भाव) में स्पष्टतः भेद है; एक परीक्षक है दूसरा परीक्ष्य । परन्तु प्रेम के साक्षात् अनुभव में हम इस विषय—प्रेम—के साथ तद्रूप हो जाते हैं । यहां 'आत्मा' ही प्रेम में परिणत हो जाती है-प्रेम वृत्ति के साथ इस का सारूप्य संपन्न हो जाता है । यही 'आत्म-भावन' है । इस प्रकार के आत्म भावन की योग्यता साहित्यकार में अवश्य होनी चाहिये । अंग्रेजी कवि कीट्स ने लिखा है: ' कवि की अपनी कोई विशिष्ट सत्ता नहीं...वह दूसरों की सत्ता के साथ—सूर्य्य, चन्द्र, समुद्र, नर नारियों के साथ-एकाकार होता रहता है "..."यदि कोई चिड़िया मेरी खिड़की के पास आती है तो मैं इस के व्यापारों का भागी बन जाता हूं और भूमि पर से दाने चुगने लगता हूं" ।

कल्पना और भावना के व्यापार की यही एक विधा नहीं । काव्यकार एक से अनेक भी बनता है, जैसे नाटक में और जगत् की अनेकता को भावना के द्वारा अपने व्यक्तित्व के साथ समरस भी कर सकता है। रवीन्द्र जैसा कवि अपनी मनोगत उदात्तता से प्रकृति को भी उदात्त बना देता है । पहली दशा में कवि वह केन्द्र है जिस से चेतना की रश्मियों का विकिरण होता है दूसरी दशा में प्रकृति की विविधता उसकी चेतना में प्रवेश करती है, और जब बाहिर आती है तो उसकी प्रतिभा से सूत्रित हो कर ।

कल्पना और भावना की प्रवृत्ति इस प्रकार एक को अनेक और अनेक को एक में परिणत करने की ओर है।

कल्पना अथवा भावना ही हमें साहित्य का व्यावर्तक लक्षण देती है। साहित्य कल्पना अथवा भावना के द्वारा साक्षात्कृत अनुभूति को सहृदय-संवेद्य बनाता है। आधुनिक आलोचना में कल्पना और अनुभूति की दो विरोधी तत्वों के रूप में बहुधा चर्चा की गई है परन्तु इस विरोध का स्वरूप स्पष्ट नहीं किया गया। बहुत से आलोचक एक कवि को उसकी कल्पना के लिए दूसरे को उसकी अनुभूति के लिए प्रशंसनीय मानते हैं। अनुभूति को कल्पना से अधिक महत्त्व दिया जाता है। परन्तु साहित्य के क्षेत्र में इनका पृथक्करण एक भ्रान्ति है। वस्तुतः हम उसी प्रकार अनुभूतियों में विचरण करते हैं जैसे मछली जल में! विषय और विषयी का जहां भी सम्पर्क होता है वहां ही अनुभूति का सृजन होता है। मुझ में और मेरे परिवेश (विषय-जगत्) में जो आदान-प्रदान होता है वह मेरी अनुभूति है। वैज्ञानिक को उस जगत् की अनुभूति होती है जिस में मात्रा, आकार, परिमाण, भार आदि गुणों का ही अस्तित्व है, और यह अनुभूति संवेद्य नहीं ज्ञाप्य है, अपनी सम्पूर्णता में इसे दूसरों के समक्ष प्रगट किया जा सकता है। साधारण व्यावहारिक अनुभूति के धरातल पर हम वस्तु स्थिति से कभी सन्तुष्ट नहीं होते, अपनी इच्छाओं और संकल्पों से प्रेरित होकर उस के किसी रूप, पक्ष अथवा आभास को परिवर्तित करना चाहते हैं अथवा परिवर्तित देखना चाहते हैं। अनुभूति वह अखण्ड तत्त्व है जिस के दो पक्ष हैं— विषयी और विषय, अहं और इदं—मैं और वह पदार्थ जो

मेरी इन्द्रियों अथवा मन् के सामने है। जिसे हम 'वास्तव अनुभूति' कहते है उस में भी विषय और विषयी दोनों की स्थिति होती हैं और कल्पना अथवा भावना से प्राप्त होने वाली अनुभूति में भी। आंखों से जब कोई विषय देखा जाता है हमें केवल उसके रूप का ज्ञान होता है यह चाक्षुष अनुभूति है। वही विषय जब मेरे अतीत के साथ सम्बन्ध होने अथवा मेरे मानस सस्कारों को रुचिकर लगने के कारण जब हृदय में भावोद्वेलन करता है तो यह उसकी भावात्मक अथवा मानस अनुभूति है। जब हम उस के स्वरूप का विश्लेषण, सम्बन्धों का अनुसन्धान करते हैं तो यह उस विषय की बौद्धिक अनुभूति है। इन सब प्रकार की अनुभूतियों – चाक्षुष, मानस और बौद्धिक – में यह कहना कठिन है कि कौन से गुण विषय के अपने हैं और कौन से विषयी के व्यापार के कारण उत्पन्न अथवा आरोपित होते हैं। यह प्रश्न दार्शनिकों के द्वारा बहुधा मीमांसित हुआ है परन्तु इसकी जटिलताओं में जाने की आवश्यकता नहीं। इतना ही कहना पर्याप्त है कि चाक्षुष अनुभूति में भी अनुभूति का विशिष्ट स्वरूप हमारी आँखों के विशिष्ट आकार पर निर्भर है। भावना के सामने रहने वाले विषय के समान इस कोटि की अनुभूति में भी विषयी का सचेष्ट होना आवश्यक है चाहे यह चेष्टा आंखों के खोलने तक ही सीमित रहे।

अनुभूति तो सब अवस्थाओं में प्रत्येक मनुष्य को प्रत्येक क्षण होती रहती है परन्तु साहित्य में वही अनुभूति प्रयोजनीय है जो कल्पना अथवा भावना का विषय बन चुकी है। अतीत के वे चित्तोन्माथी भाव, वे रोमांचक

अनुभव कहां हैं जब चेतना विलक्षण वेग से उच्छ्वसित हो उठी थी ? आज वे सब भावना के विषय हैं । भविष्य में जिन नूतन अनुभूतियों के प्राप्त होने की आशा है, जिस चित्तोन्मेष की प्रतीक्षा है वे इस समय तो भावना के ही विषय बन सकते हैं । वर्तमान में भी जिस प्रबल भाव की वेगवती लहर पर हम चढ़े हुए हैं वह थोड़ी देर के बाद व्यावहारिक दैनन्दिन अनुभूतियों के सैकत तट पर हमें पटक देगी । वर्तमान तो उस क्षण का नाम है जहां अतीत और भविष्य एक दूसरे को काटते हैं । एक क्षण में ही भविष्य वर्तमान और वर्तमान अतीत बन जाता है । एक क्षण के बाद भविष्य और अतीत के समान वर्तमान भी कल्पना अथवा भावना बन जाता है ।

कहा जा सकता है कि जब 'वस्तुतः घटित' व्यापार अथवा साक्षात् देखे रूप की कल्पना की जाती है तो उस कल्पना का आधार एक वास्तविक घटना अथवा रूप है । परन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि जिसे हम निराधार कल्पना कहते हैं उस के बीज अथवा आधार भी लोक में मिलते हैं । यदि तर्क के लिए नृसिंहावतार को कल्पना मान लिया जाय तो नर और सिंह जिनके संयोजन से नृसिंह रूप बना है कल्पना नहीं हैं । वस्तुतः जीवन अपने आप को बहुधा अभिव्यक्त कर रहा है । यदि जीवन के किसी रूप अथवा अभिव्यक्ति को ही हम ने अनुभूति का विषय मानना है तो कल्पना का स्फुरण भी जीवन की ही एक अभिव्यक्ति है । हमारे संस्कारों के साथ सम्पर्क में आकर लौकिक रूप और व्यापार नाना प्रकार की परिणतियों को प्राप्त होते हैं । इन में से जो हृदयंगम हैं, हृदय में अपना घर कर लेते

हैं, भावना उनका लालन करती है। कोई रूप और व्यापार अपने आप में कितना ही क्षणिक और छोटा क्यों न हो जब एक बार हृदय में घर कर लेता है तो भावना उस की धात्री बन जाती है, उसी के स्तन्यपान से वे बड़े होते हैं। साहित्य विविध रूपों और व्यापारों और भावना के संवर्धमान स्नेह का गान है। वह वत्सल भावना और इन रूपों और व्यापारों के स्नेह की स्मृति को सुरक्षित रखता है।

कल्पना और अनुभूति में भेद मानने से साहित्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में भ्रान्ति होने की सम्भावना है। इस भेद का अर्थ यह है कि हम केवल पुरोवर्त्ती रूपों और व्यापारों को जो इन्द्रिय गोचर हैं वास्तव मानते हैं। अनुभूति के साथ अनुभूत पदार्थ का अनिवार्य सम्बन्ध है। प्रश्न यह है कि इस अनुभूत पदार्थ का क्या रूप है ? अनुभूति के साथ ही 'वस्तु-तत्त्व' के सम्बन्ध में अजाने ही हम अपनी धारणा व्यक्त कर देते हैं। हम यह कभी नहीं कहते कि हमें 'अवास्तव' की अनुभूति हो रही है। जिस की हमें अनुभूति हो रही है वह तो निस्सन्देह हमारे लिए वास्तव है। यदि साहित्य का उद्देश्य बाह्यजगत् के रूपों और व्यापारों के सम्बन्ध में तथ्यों को संकलित करके हमारे ज्ञान को बढ़ाना है तो उन रूपों और व्यापारों के साथ साहित्यकार का सम्पर्क उसी प्रकार का होना चाहिये जैसा किसी व्यवसायी अथवा अर्थ-साधक, स्वार्थ—पर, कर्मठ व्यक्ति का। ऐसे व्यक्ति की अनुभूति एक विशेष प्रकार की होती है और जहां तक व्यवहार-जगत् को अपनी स्वार्थ-सम्पत्ति का साधन बनाने का प्रश्न है वह अनुभूति से सम्पन्न है और कल्पना से कोसों दूर। परन्तु साहित्यकार

ऐसे व्यक्ति का प्रतिरूप नहीं बन सकता। वस्तुतः अनुभूति के साथ यह प्रश्न और लगा हुआ है कि उस अनुभूति का प्रकार क्या है ? कलाकार और उपर्युक्त व्यवसायी एक पदार्थ को देखते हुए भी अपनी विभिन्न अनुभूतियों के कारण अलग हो जाते हैं। एक के लिए वह पदार्थ अपने ध्येय तक पहुँचने का उपकरण है दूसरे के लिए वृत्तियों का विश्रान्ति—स्थान। वस्तुतः साहित्य—कृति में कल्पना और अनुभूति को दो अलग तत्व मान कर उन का विश्लेषण करना व्यर्थ है। हमें कल्पना और अनुभूति का प्रश्न न उठा कर पूछना यह चाहिए कि साहित्यकार को 'कल्पना की अनुभूति' में कहां तक सफलता मिली है। वस्तुतः जैसा कि हमने ऊपर देखने की चेष्टा की है भावना 'परिणत कल्पना' ही है। हमारे मन में अजस्र स्फुरण होते रहते हैं, संकल्प विकल्प उठते हैं और लुप्त हो जाते हैं; हमें उनके नाम रूप का उसी प्रकार कुछ पता नहीं रहता जैसा कि समुद्र के मध्य उठने वाली भंगुर लहरियों के नाम और रूप का। परन्तु कई बार कोई कल्पना इस मानस सर से अप्सरा के समान उठती है और अपनी सुषमा से चेतना को अपनी ओर खींचती हैं। जब हम बारम्बार इस सुषमा को मनोलोक में देखते हैं तो हमें इसकी अनुभूति होने लगती है। कल्पना भावना में परिणत होने लगती है। कल्पना मुकुल, अथवा पुष्प है तो भावना रस से संभृत फल। वह ध्यान जिस के कारण वह रूप बारबार चेतना के सामने आता है इस फल का परिणमयिता है। साधारण कल्पनाएं तो सब के मन में सतत उठती रहती हैं परन्तु उनकी 'काव्योपयुक्त' 'अनुभूति' सब को नहीं होती।

मन दर्पण के समान निष्क्रिय नहीं कि पदार्थों

को ज्यों का त्यों प्रतिफलित कर दे । इसको सृजनात्मक शक्ति का नाम ही कल्पना है । इस सृजनात्मक शक्ति के शिथिल हो जाने पर ही हमें कला और जीवन के क्षेत्र में विफलताओं के दर्शन होते हैं । अध्यात्म दर्शन में तो संसार का रचयिता मन को ही माना गया है (मनः परं कारणमामनन्ति संसारचक्रं परिवर्तयेत् यत्; भागवत) मन की सृजनात्मक शक्ति कई रूपों में प्रगट होती है । हमारी अनुभूतियों का उपादान करण ऐन्द्रिय सवेदनाएं हो हैं । हम मधुर, अथवा कर्कश ध्वनियां सुनते हैं, कोमल अथवा कठोर पदार्थों का स्पर्श करते हैं, कटु और कषाय व्यंजनों को चखते हैं, परन्तु इन ऐन्द्रिय संवेदनाओं की विविधता को अन्विति देना उन में एकता का सूत्र ढूंढना, बहुत से मधुर पदार्थों के चखने से मधुरता नाम के गुण की उन सब पदार्थों में व्याप्ति देखना—यह मनोव्यापार है । मन की सफल प्रवृत्ति वही है जहां यह अनेक के मूल में विद्यमान ऐक्य तक पहुँचता है । इसी में इस की सृजन शक्ति प्रगट होती है । हमारी एषणाओं और वासनाओं का स्वभाव है कि वे हमें विविध दिशाओं में खीचतीं है । वही मन सृजनात्मक होगा जो इन के अन्ध वेग को शान्त करके उन सब की समवेत शक्ति को किसी उदात्त आदर्श की ओर प्रवृत्त करदे । ऐसे सृजनात्मक मन का ही नाम प्रज्ञा है । मन की सृजनात्मक शक्ति जड द्रव्यों को लक्ष्य करके भी प्रवृत्त होती है और दूसरे मनों को भी । जब हम जड़ पदार्थों को अपने संकल्पों की पूर्ति के लिए रूप देते हैं—जैसे तन्तुओं को पट का--तो भी हाथ आदि को अपना माध्यम बना कर मन ही प्रवृत्त होता है । गुरु जब अपने शिष्यों

को नये आन्तर लोकों की ओर ले जाता है और उनकी अन्तर्निहित शक्तियों को उन्मीलित करता है वहां भी हम मन को प्रेरक और उद्भावक के रूप में देखते हैं। हमारा समस्त सांस्कृतिक दायाद्य और परिवेश मन की सृजन शीलता के साक्षी हैं। कविता अपने आप में जड़ काग़ज़ पर पड़े हुए जड़ अक्षरों का संघात है, परन्तु मनोव्यापार से वह सस्पन्द हो उठती है। मन की इस शक्ति से ही प्रतीकों की प्रतिष्ठा होती है और जड़ द्रव्य चैतन्य के "मूल्यों" के वाहन बन जाते हैं। राष्ट्रीय उत्सव जिन का सम्बन्ध हमारे इतिहास से है एक अनभिज्ञ विदेशी के लिए कुछ अर्थरहित व्यापारों के समुच्चय हो सकते हैं परन्तु वही व्यापार हमारे लिए बहुत अर्थ गर्भित हैं और हमारी राष्ट्रीय चेतना को मुखर करते हैं। मन की सृजनशीलता यहां साधारण अँगों के संचालन को—स्फूर्त्त चेष्टाओं को—नये अर्थों से संभृत करने में है। मन्दिर और देवालय को उच्चित ईंट और पत्थर के रूप में भी देखा जा सकता है परन्तु वस्तुतः यही ईंट और पत्थर जिन मनोलोकों को मूर्त्त करते हैं उनका महत्व सनातन है। मन अपनी सृजनात्मक शक्ति के द्वारा जड़ द्रव्यों को सात्म्य प्रदान करता है, उन में अर्थों, अर्थात् मानस मूल्यों का आधान इसी शक्ति के कारण होता है। ईंट और पत्थर की पिंडित जड़ता मन की शक्ति के कारण पारदर्शिनी बन जाती है।

जिस प्रकार का सम्बन्ध कुम्हार और मिट्टी में है उसी प्रकार का एक सीमा तक कवि कर्म में विषयी और विषय में है। उन का वैषम्य तो स्पष्ट है परन्तु साम्य यह है कि विषय को विषयी उसी प्रकार अपनी कल्पना और भावना शक्ति

से नया रूप दे सकता है जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी को। मानस अवस्थाएँ भी मिट्टी जल और आग की तरह विषय ही हैं – इसलिए वे भी कवि-प्रतिभा से नये संस्कार को ग्रहण कर रूपान्तर को प्राप्त होती हैं। विषय को लक्ष्य कर के विषयी का व्यापार प्रवृत्त होता है। धातु अथवा मिट्टी कुम्हार का विषय है, उस से वह कलश बनाता है, वह कलश कीट्स जैसे किसी कवि का विषय बनता है और कवि उस पर कविता लिखता है। वह कविता आलोचक का विषय बनती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विषयी के व्यापार की सफल प्रवृत्ति से नया विषय बनता है और यह नया विषय उसी प्रकार नये रूप के लिए साकांक्ष है जैसा कि इसका पूर्ववर्त्ती रूप। समस्त प्रकृति को परमात्मा का विषय कहा गया है क्योंकि सभी रूपों का आद्य प्रेरयिता वही है।

"ममयोनिर्महद्ब्रह्म अहं बीजप्रदः पिता
गीता, XIV,

अपनी अनुभूतियों और संकल्पों के साथ मन का वही सम्बन्ध है जो परमात्मा का प्रकृति के साथ। वे इसका 'करण, अकरण अथवा अन्यथा करण'–को परिवर्तन–विधायक शक्ति के समक्ष निरीह हैं। इसीलिए कवि के मनोविकार उसकी सृजन-शक्ति के द्वारा नई ऊर्जा और रसवत्ता को ग्रहण करते हैं।

भारतीय दर्शन में विषय की परिभाषा बड़ी व्यापक है। जो कुछ भी हमारी चेतना के गोचर हो सकता है, विषय है। स्थूल भौतिक पदार्थ–पत्थर, दीवार, चांद, सितारे--तो विषय हैं ही, हमारी मानस अवस्थाएं-प्रेम, ईर्ष्या, उल्लास, सन्देह--आदि भी विषय हैं क्योंकि ये

भौतिक दृष्टि से अमूर्त होते हुए भी चेतना के गोचर तो हैं। यहां यह बात स्पष्ट कर देनी चाहिये कि विषय के किन गुणों की ओर ध्यान दिया जा रहा है—यह विषयी पर निर्भर है। वैज्ञानिक परिमेय गुणों की ओर ध्यान देता है, परन्तु पदार्थ—जल, मिट्टी, फूल—उस से यह नहीं कहते कि हमारे अमुक गुणों की ओर ध्यान दो, विश्लेषण करो अथवा अनुसन्धान करो। इसीलिए विषय विषयी की अपेक्षा जड़ माना गया है। कलाकार से फूल यह नहीं कहता कि तुम मेरी जाति, पँखुरियों की संख्या आदि की ओर ध्यान न दे कर समीर के साथ मेरी अठखेलियों और मेरे नाना वर्ण-विच्छुरित वेष की ओर देखो। इस से यह निष्कर्ष अनिवार्य हो जाता है कि विषय विषयी के व्यापार के कारण ही तत्तत् गुणों से विशिष्ट माना जाता है। विषय अपने आप में चाहे कुच्छ भी हो उस में जिन गुणों का आधान हुआ है वह विषयी के व्यापार के बिना सम्भव नहीं। इस का यह अर्थ नहीं कि विषय की निरपेक्ष सत्ता नहीं है, परन्तु हमें इस निरपेक्ष सत्ता के स्वरूप का पता नहीं चल सकता, हमें जिस रूप का पता चलता है वह हमारे अपने ऐन्द्रिय और मानस व्यापार के बिना सम्भव नहीं।

कवि कल्पना में मानस व्यापार का प्राधान्य है परन्तु साधारण व्यावहारिक अनुभूति में भी इस प्रकार के व्यापार का विशिष्ट स्थान है। इन्द्रियों के अपने अपने क्षेत्र हैं। अपने अपने क्षेत्रों में वर्तन इन का स्वभाव है। आंखों का क्षेत्र चाक्षुष रूपों की समष्टि है, जिह्वा का क्षेत्र रसों का जगत् है, नासिका का विचरण केवल गन्ध के ही क्षेत्र में होता है। मानस व्यापार के बिना बाह्य जगत् के 'स्थूल, ठोस, 'वास्तव' पदार्थों की

प्रतीति भी सम्भव नहीं है । आंखों को सफेद रंग का ही ज्ञान होता है दूध अथवा चूने का नहीं । मानस व्यापार के बिना दूध जो कि कई गुणों को समष्टि है की प्रतीति नहीं हो सकती । मान लीजिए मैं गुलाब के प्रफुल्ल रूप को देखने के लिए किसी बाग़ में जाता हूं। जहां तक इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का सम्बन्ध है सारा बाग़ मेरी आंखों के लिए विविध रंगों का पटल है। दृगिन्द्रिय को प्रत्यक्ष में फूलों लताओं और वृक्षों का ज्ञान नहीं होता, केवल रूपों और रंगों का ही साक्षत्कार होता है परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि ये रूप और रंग किस के हैं। इस पटल के विविध वर्णी प्रसार के एक अंश को-जहां गुलाब खिल रहे हैं–मैं मानस व्यापार के द्वारा अलग कर लेता हूं और मेरा ध्यान वहीं केन्द्रित हो जाता है । बाग में अगणित व्यापार हो रहे हैं; पत्तों का मर्मर, भ्रमरों का गुंजन, कलियों का उन्मीलन, पक्षियों की कलध्वनि कई ऐसे व्यापार हैं जो साधारण मनुष्य के लिए सहज ही अनुभव गम्य हैं, बहुत से ऐसे व्यापार हैं जो बनस्पति-शास्त्र और प्राणिशास्त्र के कोविदों के लिए प्रत्यक्ष परन्तु साधारण व्यक्तियों के लिए परोक्ष और अदृश्य हैं । बनस्पति शास्त्री और साधारण व्यक्ति अपने मनोव्यापारों की विभिन्नता के कारण भिन्न भिन्न अनुभूतियों को प्राप्त कर रहे हैं। शिशु के अविकल दृग् व्यापार के लिए सामने पड़ा खँडहरों का समूह एक संवेदन मात्र हैं । एक निरक्षर और इतिहास से अनभिज्ञ व्यक्ति के लिए खँडहर खँडहर ही हैं । इतिहासज्ञ के लिए उन खण्डहरों के साथ किसी साम्राज्य के उत्थान पतन की गाथा अनुस्यूत है । इतिहासज्ञ कवि

जब उन खण्डहरों को देखता है तो उस के सामने वैभव की छटा, शक्ति का भ्रू-कुंचन, विलासिनियों के विभ्रम और निर्मम काल की उद्दंतुर क्रूरता के द्वारा पीसा गया मनुष्य का अहंमान—ये सब दृश्य और भाव घूम जाते हैं। इस प्रकार सृजन के कई चरण हैं। और जहां भी सृजन है वहां कल्पना है।

इसीलिए साहित्यकार सर्जक अथवा स्रष्टा है। परन्तु यह सृजन-शक्ति उस सृजन-शक्ति से सर्वथा भिन्न नहीं जिस से सम्पन्न होकर साधारण मनुष्य वहां रंग, रूप और गन्ध के जगत् को देखता है जहां विज्ञान के लिए केवल ऋण और धन-विद्युत्कणों के व्यापार अथवा परमाणुओं की ही सत्ता है। जिस प्रकार वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाने से जगत् कारण-कार्य्य शृङ्खला में बद्ध व्यापारों की आवृत्ति मात्र रह जाता है जिस में सौन्दर्य्य मनोभ्रम मात्र है उसी प्रकार इसी दृष्टिकोण से देखी गई भाषा वैयाकरण के विश्लेषण के कारण अपने मूल भूत तत्त्वों को तो अनावृत कर देती है परन्तु इन मूल भूत तत्त्वों में सौन्दर्य्य और भावोद्बोधक शक्ति को देखना वैयाकरण के लिए उतना ही कठिन है जितना वैज्ञानिक के लिए कोयल के गान और अरुणा के पाटल हास को परमाणुओं के संघटन और विघटन में देखना। परन्तु जिस प्रकार विज्ञान के मूल भूत तत्त्व ही कोयल की उच्छ्वसित गीतियों और आकाश के विपुल रंगमय वैभव का रूप धारण करते हैं उसी प्रकार भाषा के मूल भूत तत्त्व—ध्वनि समूह—रामायण और महाभारत में परिणत हो जाते हैं। और इन दोनों परिणतियों के मूल में मनुष्य की कल्पना

और सृजन-शक्ति ही कार्य्य कर रही हैं।

कलाकृति और बाह्यजगत् दोनों ही इस सृजनशक्ति के कारण ही अस्तित्व में आते हैं। जिस प्रकार एक ही विषय पर लिखी गई कई कविताएं इस प्रतिभा के तारतम्य के कारण उत्कृष्ट, मध्यम अथवा निकृष्ट कोटि की हो सकती हैं उसी प्रकार इस आन्तर सृजन-शक्ति की विभिन्नता के कारण भिन्न भिन्न प्रमाता अलग अलग प्रकार के जगत् में रहते हैं। एक बलि पन्थी वीर और साधारण कान्ता और कनक के इच्छुक के संसार भिन्न भिन्न हैं यद्यपि दोनों अपनी आंखों से एक ही प्रकार के दृश्य को देख रहे हैं। "..................... ..ह्मस्थानन्दमयं जगत्।" जिस प्रकार व्यवहार-कुशल व्यक्ति इस अपनी शक्ति से उद्भावित जगत् के पदार्थों में ही आनन्द न लेता हुआ किसी परवर्त्ती चरम परिणति की आकांक्षा में उनका प्रयोग साधनों के रूप में ही करता है, उसी प्रकार हम कलाकृतियों का प्रयोग भी प्रचार आदि के लिए करते है।

साहित्यकार की विशिष्टता इस बात में नहीं कि उसे व्यवहार-जगत् का विपुल ज्ञान प्राप्त है अथवा वह कर्म-कलिल जगत् का सेठों, "तिकड़मी" व्यवसायियों, कूटनीतिज्ञों की तरह गाहन करने वाला है। जगत् के व्यावहारिक अनुभव में वह इन के साथ होड़ नहीं ले सकता। परन्तु इस प्रकार का अनुभव यदि साहित्य का हेतु होता तो संसार के बड़े बड़े साहित्यकार कूटनीतिज्ञ और व्यवसायी ही होते। व्यवहार ऐन्द्रिय संवेदनाओं में लुण्ठन का ही दूसरा नाम है। यहां विचार का उद्देश्य है इन्हीं संवेदनाओं के एक चक्र से मुक्ति दिला कर दूसरे चक्र में

प्रवेश करवा दे। विचार यहां इन संवेदनाओं का सेवक है। परन्तु इन संवेदनाओं में आमूलचूल निमग्न रह कर भी हम अनुभव से वंचित रह सकते हैं। बहुत से रूपों और व्यापारों को हम इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करते हैं और यहां हम पशुओं के समानधर्मा हैं। ये संवेदनाएँ तो अनुभव नहीं। भावना ही इन की अरूप सकुलता में निहित अर्थवत्ता को आविष्कृत कर सकती है। अर्थ आन्तरिक अनुभूति है। ये अर्थ ही साहित्य में उपादेय हैं। भावना-निष्ठ अनुभूति, अहंभाव से मुक्त चेतना के द्वारा साक्षात्कृत अर्थ ही साहित्यकार को व्यापारियों और कूटकारों से अलग कर देते हैं। विविध रूपों और व्यापारों को स्मृति में संचित कर लेने से ही कोई साहित्यकार नहीं बनता। साहित्यकार का विशिष्ट धर्म 'निरीक्षण' नहीं 'ईक्षण' है। बादरायण के ब्रह्मसूत्रों में ब्रह्म का ईक्षण व्यापार ही नाम रूप को प्रगट करने वाला है।§ ईक्षण की इस अवस्था का उदय तब होता है जब चेतना द्रष्टा भाव में उपराम को प्राप्त होती है।

तथ्यों का संकलन और रक्षण कवि-प्रतिभा का काम नहीं। कवि-प्रतिभा तो इन तथ्यों की जड़ता को अनुप्राणित कर देती है जिस से वे इस विवर्तमान मृत्पिण्ड—पृथ्वी—को सनाथ करने वाले मानव के हृदय के प्रति-फलक भी बनते हैं और सर्जक भी, उसकी स्थिति के परिचायक भी बनते हैं और गायक और विधायक भी।

क्या कारण है कि कई बार ऐसे रूप और व्यापार जिन की अनुभूति हमें कई बार हुई हैं हमारे द्वारा रचित साहित्य-कृति में पर्याप्त प्रभविष्णुता ग्रहण नहीं कर

---

§ईक्षतेर्नाशब्दम्; बादरायण ब्रह्मसूत्र 1. 1. 5

सकते। यह तो हम ने देखा ही है कि साहित्यकार के मन में —वस्तुतः काल के अपरिवर्तनीय और निर्बाध प्रवाह के कारण हम सब के मन में—तीव्र और मन्थी अनुभव भी कल्पना के रूप में ही रहते हैं। जब परिचित रूपों और व्यापारों से सम्बद्ध कला-कृति अपेक्षित रसवत्ता अथवा प्रभाव का सृजन नहीं कर सकती तो हम यह नहीं कह सकते कि उस रूप अथवा व्यापार की अनुभूति कलाकार को नहीं हुई। विफलता के और भी कारण हो सकते हैं विशेषतः भाषा का शैथिल्य, शैली की अपरिपक्वता। परन्तु अनुभूति का प्रभाव इस विफलता का कारण नहीं हो सकता। अनुभूति तो उसे प्राप्त है। परन्तु उस पदार्थ और व्यापार से स्फुरित हुई 'कल्पना की अनुभूति' उसे प्राप्त नहीं हुई। कल्पना पक कर भावना का रूप धारण नहीं कर सकी।

यह कहना बड़ा कठिन है कि हमें किसी घटना, रूप अथवा व्यापार की भावनात्मक अनुभूति कब अथवा किस अवस्था में हो सकती है? क्या किसी दुर्घटना आदि को आँखों से देख कर ही हम कह सकते हैं कि हमें इस की 'अनुभूति' हुई है। अथवा उस घटना को देखकर जीवन के सम्बन्ध में जो भाव और विचार उठे हैं वे ही इस अनुभूति को वास्तविकता देने वाले हैं? यदि ऐसी बात है तो सारा साहित्य स्थूल अर्थों में 'आप बीती' बन जाती है। गम्भीर दृष्टि से विचार करने पर सारा साहित्य—रोमैण्टिक हो अथवा क्लासिक-आत्म-चरित ही है क्योंकि रामायण में अपनी भावना के साथ राम कथा को एक रस कर के ही वाल्मीकि कृती बन सके हैं अर्थात् उस कथा की भावना उन के अन्य जीवन-

व्यापारों में अनुस्यूत होने के कारण उन के जीवन का अंग बन चुकी है। परन्तु यहां वाल्मीकि उस 'आपे' की बात नहीं कर रहे जिस का विवरण 'आत्म-चरितों' में रहता है, वह 'आपा' जो संकल्प करता है, उन्हें चरितार्थ करने की चेष्टा करता है, परिस्थितियों से बाधित होता है, लड़ता, हँसता और रोता है, और अपने दैनिक कार्य्य कलाप और उस के इष्ट और अनिष्ट दोनों प्रकार के परिणामों से अहंता के पोषण के लिए सामग्री ग्रहण करता है। हम अभी देखेंगे कि साहित्य में अभिव्यक्त 'आपा' साधित और परिनिष्पन्न होता है चाहे उसकी यह अवस्था सृजन के क्षणों तक ही क्यों न रहे। वस्तुतः उपर्युक्त अर्थों में प्राप्त हुई अनुभूति की विशेष महत्ता नहीं होती क्योंकि हम दूसरों के जीवन चरित में—जब तक हमारा उन के साथ विशेष सम्बन्ध न हो—अधिक रुचि नहीं ले सकते। और यदि हम रुचि लें भी सही—आत्मगाथाओं का आधुनिक युग में काफ़ी प्रचार है—हम उस जीवन के सम्बन्ध में उसी प्रकार तथ्यावलि का संचयन मात्र करते हैं जैसे विज्ञान अथवा इतिहास में। इस दशा में हम साहित्य के अध्येता अथवा भावक कहलाने के अधिकारी नहीं। और यदि तथ्यावलि का ज्ञान ही हमारा उद्देश्य है तो चाहे वह आत्मचरित कितनी ही सुन्दर 'साहित्यिक भाषा में क्यों न लिखा गया हो उस से साहित्यिक अनुभूति लेने की क्षमता हम में नहीं आई और यदि उसके प्रणयन के मूल में अपने जीवन के सम्बन्ध में भ्रान्तियों आदि का निराकरण करना प्रणेता का उद्देश्य रहा है तो उस में साहित्यिक अनुभूति साकार नहीं हुई।

वस्तुतः अनुभूति के अर्थ विस्तर को व्यापक रूप में समझने से ही हमारे संशयों का समाधान हो सकता है। जैसा कि अरस्तू ने कहा है, "अनुकरण यथाभूत का ही नहीं संभाव्य का भी होता है" और संभाव्य का अनुकरण करने वाला साहित्य कल्पना से प्रसूत होता है। साहित्यकार की चेतना स्थूल देशकालबद्ध तथ्यों की बन्दिनी नहीं और न ही स्थूल देशकालबद्ध मन की अनुसारिणी है। तथ्य तो उस के लिए 'स्प्रिंगबोर्ड' हैं—यदि यथाभूत भूमि है तो संभाव्य आकाश है। इन दोनों की समग्र अखण्डता विश्लेषणात्मक बुद्धि के द्वारा विभक्त हो कर 'यथार्थ और आदर्श' में बंट जाती है। परन्तु साहित्यकार की चेतना जानती है कि 'द्यावापृथिवी' का सम्बन्ध सनातन है. एक के जल निषेक से दूसरी अन्तः संभृत निधियों को बाहिर ला सकती है।

वस्तुतः स्वप्न हो अथवा दिवास्वप्न, किसी समाचार पत्र में पढ़ा गया दुर्घटना का वृत्त हो अथवा आँखों देखा—सभी 'अनुभूति' के अन्तर्गत हैं। कवि अथवा कलाकार की चेतना के लिए इन में से कोई भी प्रस्थान-बिन्दु हो सकता है, किसी से भी प्रेरित होकर वह उड़ान भर सकती है। जैसा कि हम ने ऊपर देखा है यथातथ चित्रण भी साहित्यिक रूप प्राप्त कर के वैज्ञानिक अर्थों में यथातथ नहीं रहता, साहित्यकार के मानस संस्कार के साथ मिल कर वह आन्तर और बाह्य का संगमस्थल बन जाता है। यह कहा जा सकता है कि बाह्य जगत् ही प्रमा, यथार्थ ज्ञान अथवा वास्तव अनुभव का स्रोत है, समाचार-पत्र या पुस्तकें नहीं। परन्तु यह तो इस बात पर निर्भर है

कि अनुभूति का ग्रहीता आन्तरिक दृष्टि से कितना व्युत्पन्न अथवा विकसित है, कितनी मात्रा में किस कोटि का अनुभव पचा सकता है। इलियट ने कहा है कि तथा-कथित यथार्थ जगत् से प्राप्त होने वाले अनुभव में भी सच और झूठ उसी प्रकार मिले रहते हैं जैसे कि पुस्तकों से प्राप्त होने वाले अनुभव में। शकर के शब्दों का इस सन्दर्भ में प्रयोग करते हुए हम कह सकते हैं कि दोनों में 'सत्यानृत का मिथुनीकरण' है। वस्तुत: पुस्तकें आदि भी वास्तविकता का उसी प्रकार अश हैं जैसा कि इन्द्रिय-गोचर दूसरे रूप और व्यापार। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त प्रमा के दूसरे साधनों को भी स्वीकार किया गया है। और फिर प्रत्यक्ष भी एक प्रकार का नहीं। इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी है, जैसे पर्वत, आकाश, गन्दी नालियां; मानस और बौद्धिक प्रत्यक्ष भी हैं—प्रेम, क्रोध आदि भाव, किसी गणित-शास्त्री का समस्या के सुलझ जाने पर उल्लास और योगि-प्रत्यक्ष भी जिस में सभी परावर रहस्य खुल जाते हैं।

साहित्यकार की अनुभूति पर विचार करते हुए साहित्य में आत्माभिव्यक्ति के स्वरूप को भी स्पष्ट कर देना चाहिये। साहित्य में अभिव्यक्त आत्मा वही नहीं जिसे हम व्यवहार जगत् में अभिव्यक्त करते हैं। जिस प्रकार साहित्य में अभिव्यक्त फूल वही फूल नहीं जिसे हम चर्मचक्षुओं स ग्रहण करते हैं - वह भावित फूल है—उसी प्रकार साहित्यकार सृजन के समय आत्म भावन, आत्म-प्रणयन भी करता है। इसी लिए हम किसी भी साहित्यकार को जिसे हम ने अच्छा तरह पढ़ा है उस की शैली और भावन-पद्धति के आधार पर पहचान सकते हैं। उस की कृति एक प्रकार का हस्ताक्षर है।

परन्तु प्रश्न यह है कि क्या साहित्यिक कृति उस के व्यक्तिगत भावों और संवेदनाओं की गाथा है ? क्या रोमाण्टिक साहित्य कवि के जीवन-चरित के तथ्यों का संकलन करने के लिए हमारा सहायक हो सकता है अथवा क्या इस उद्देश्य के लिए तथा-कथित आत्म परक साहित्य का प्रयोग उचित है ?

वस्तुतः साहित्य में आत्माभिव्यक्ति का प्रश्न इतना सरल नहीं जितना इसे समझ लिया गया है। वैसे तो हम अपने प्रत्येक कार्य्य में ही 'आत्माभिव्यक्ति' करते हैं — केवल साहित्य में नहीं। वैज्ञानिक, गणितज्ञ और वैयाकरण अपने अपने विशिष्ट क्रिया—कलाप में 'आत्माभिव्यक्ति' ही कर रहे हैं। इस दृष्टि से साहित्य की विशिष्टता प्रगट नहीं होती। साहित्यकार और मीमांसक दोनों समानधर्मा बन जाते हैं। और साधारण दृष्टि से साहित्य को आत्माभिव्यक्ति समझ लेने से हमें इस बात का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता कि हम दूसरों की 'अभिव्यक्त आत्मा' में रुचि क्यों दिखाएँ दूसरों के उच्छ्वासों से अपने आप को उत्तप्त क्यों करें। साधारण व्यक्ति ऐसा नहीं करते। जिन्हें हम अपना कहते और समझते हैं उन में रुचि दिखाना हमारे प्राकृत व्यक्तित्व का धर्म है परन्तु कोई कारण नहीं कि हम किसी बिल्कुल अपरिचित व्यक्ति की जीवन-गाथा को, उसके भावों और उद्गारों के विवरण को, सावधान हो कर सुनें अथवा पढ़ें। साधारणतया हम अपरिचित व्यक्तियों को पकड़ कर उनकी जीवन-गाथा सुनने की उत्सुकता नहीं दिखाते ।

जैसा कि ऊपर कहा गया है साहित्य में अभिव्यक्त

आत्मा और व्यवहार-क्षेत्र में अभिव्यक्त आत्मा अभिन्न नहीं। यदि कोई अपने लौकिक व्यक्तित्व की बात कर रहा है जिस में वह कर्मक्षेत्र की रज से रूषित रूप में हमारे सामने आता है—जहां उसका अहं अपनी पार्थिव स्थिति के विभव और पराभव की ही बात सोच सकता है—तो हम इस व्यापार से उसी प्रकार रस ग्रहण नहीं करते जैसे साहित्य के अनुशीलन से। यदि साहित्य आप बीती है तो हमें यह न भूलना चाहिये कि आप बीती के प्रति हमारी प्रतिक्रिया भिन्न कोटि की होती है। परन्तु साहित्यिक कृति को यदि हम साहित्यकार का दर्पण मानते हैं तो वह सहृदय का भी दर्पण है। आप बीती को हम सुन लेते हैं परन्तु साहित्य में हम अपने ही भावित 'अहं' का रसास्वादन करते हैं। साहित्यिक कृति साहित्यकार के व्यक्तित्व को ही अभिव्यक्त नहीं करती वह हमारे संस्कारों को भी उन्मीलित, रूपायित करती है। किसी प्रेम-गीत में हम कवि की अपनी प्रणयानुभूति को ही अभिव्यक्त नहीं देखते। साधारणतया हम अपनी ही प्रणयानुभूति को उज्जीवित करते हैं और समझते हैं कि कवि हमें अपने गुह्य जीवन की झांकी दिखा रहा है।

साहित्यकार के व्यक्तित्व की एक विशेषता यह है कि वह दूसरों के साथ तादात्म्य प्राप्त कर सकता है। यही भावन व्यापार है। चन्द्र पर कविता लिखने वाला कवि चन्द्र का भावन करता है। इसी प्रकार शृंगार और वीर-रस की का कवि इन का भावन करता है। स्थूल पदार्थों के समान भावों का भी भावन होता है। जिस प्रकार का सम्बन्ध कवि का चन्द्र के साथ

है वैसा ही उन भावों के साथ जो उसके काव्य के विषय हैं। यह कहना भ्रामक है कि ये भाव उस के 'अपने' हैं, यदि अपने से हमारा सङ्केत उस के पार्थिव व्यक्तित्व को ओर हैं। यदि ये भाव उस के अपने हैं तो उसी प्रकार जैसे 'चन्द्र' उस का अपना है।

कवि जिस व्यक्तित्व को व्यक्त करता है वह भावित व्यक्तित्व है। यदि हम कहें कि यह साधारणीकृत व्यक्तित्व है तो भी उस के लौकिक 'निजत्व'' का परिहार हो जाता है, उस में 'आत्म चरित' ढूंढने का प्रयास मोघ सिद्ध होता है। यह व्यक्तित्व प्रबन्ध काव्य में भी उसी तरह अभिव्यक्त होता है जैसे गीति-काव्य में। अपनी साहित्यिक कृति में साहित्यकार अपनी 'मूल्य भावना'' को मुखर करता है। जीवन का कौन सा रूप उस के लिए काम्य है उसकी सौन्दर्य चेतना किन व्यापारों में रमण कर रही है, वह किस विषय को किस आलोक में देख रहा है—ये सब तथ्य अविकल रूप से प्रबन्ध-काव्य में भी अभिव्यक्त हो जाते है। अतः प्रबन्ध-काव्य भी इस दृष्टि से आत्म-परक हैं।

यह ठीक है कि भावन-पद्धति और शैली की विशेषता के कारण उत्तम कोटि के साहित्यकारों की कृतियां "हस्ताक्षरित'' सी हो जाती हैं और इसीलिए प्रसाद जैसे कवियों में हम तत्तत्‌गुणों को देखकर ही कह सकते हैं कि अमुक रचना में अमर कवि जैसा व्यक्तित्व झलक रहा है। परन्तु यहां भी यह व्यक्तित्व वही नहीं जिससे उस के पड़ोसी परिचित हैं। वाल्मीकि और व्यास का पार्थिव, नामरूपात्मक व्यक्तित्व तो मिट गया है परन्तु उन का

मानस-बौद्ध व्यक्तित्व, उनकी भावन-पद्धति, जीवन के प्रति उन का दृष्टिकोण, उन के मनोमय कोष के राग और उन रागों का प्रणयन करने वाली उनके विज्ञानमय कोष की अनाविग्न प्रज्ञा—इन के अमरत्व में किसे सन्देह हो सकता है ? साहित्यकार के भौतिक नामरूपात्मक व्यक्तित्व की अपेक्षा उस का बौद्ध, भावात्मक व्यक्तित्व अधिक मूल्यवान् होता है । उस के इस 'वास्तव व्यक्तित्व' की ओर उस का साहित्य निर्देश करता है। इस व्यक्तित्व की वास्तवता भौतिक तथ्यों के संकलन से अनावृत नहीं होती । उसकी अनुभूति के निर्धारक ये आन्तर कोष ही हैं । अन्नमय कोष तो उसके व्यक्तित्व का पाद-पीठ है, धरातल है विज्ञानमय और आनन्दमय कोषों के धवल, भास्वर और गगनलेखी शृंग ही उसके आवास हैं।

कवि का व्यक्तित्व उसकी भावनात्मक अनुभूति में ही समाहित हो जाता है। इस अनुभूति में और इस का प्रतिच्छायित करने वाली भाषा बिम्बावली, लय आदि में व्यंजक-व्यंग्य सम्बन्ध है । जीवन चरित से संबद्ध किसी तथ्य अथवा भाव को साहित्यिक कृति की समग्रता से अलग किया जा सकता है परन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि वह तथ्य अथवा भाव समग्र कलाकृति के राजपट का एक सूत्र मात्र है । समग्र कलाकृति एक ऐसा अखण्ड तत्त्व है जिस में विविध मानस व्यापार भावना द्वारा संग्रथित हो जाते हैं—वे पृथक्कृत हो कर अपनी उस स्थिति से च्युत हो जाते हैं जिसमें वे एक बहुविध जीवन प्रक्रिया के वाहक नाडी-जाल के समान आबद्ध और अन्योन्याश्रित रहते हैं।

जब साहित्यकार किसी यथार्थ घटना का वर्णन करने लगता है तो हमें यह न भूलना चाहिये कि घटना के प्रति उस की प्रतिक्रिया विषय जगत् का एक तथ्य है। वह प्रतिक्रिया उस घटना की समग्रता का एक अंश है। जब घटना और प्रतिक्रिया दोनों विषय-पक्ष में आ जाते हैं तो वे साहित्यकार द्वारा भावित होते हैं। ऐसी अवस्था में साहित्यकार अपने उस व्यावहारिक व्यक्तित्व से विविक्त हो जाता है जो आशा अनाशा से पीड़ित, प्रिय से प्रहृष्ट और अप्रिय से उद्विग्न होता है। ऐसी अवस्था में जो अनाकुल अनुभव होता है वह भावन-व्यापार से प्रसूत होता है। इस अवस्था में जैसा कि हम ने कहा है साहित्यकार व्यावहारिक व्यक्तित्व के आग्रहों और वेगों का स्वामी होती है। यह और बात है कि वह शिवत्व की इस अवस्था को सृजनोत्तर काल में --व्यावहारिक जीवन में — स्थिर रख सकता है या नहीं। परन्तु स्रष्टा सृजनकर्म की सफल प्रवृत्ति में अवश्य उस स्थिति को प्राप्त कर लेता है जिस में वह मनोवेगों का नियन्ता है। 'ज: सर्वं अधितिष्ठते।' यह तो स्पष्ट है कि वे पत्रकार, लिक्खाड़ और प्रचारक साहित्य के रचयिता जो साध्य और साधन के बीच दोलायित रहते हैं इस स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकते।

जब तक हम कर्मयोगी नहीं बन जाते हम अपनी वास्तव 'आत्मा' को उसी प्रकार निर्व्यलीक रूप से बाह्य कर्म क्षत्र में अभिव्यक्त नहीं कर सकते जैसे साहित्य में। साहित्य में कूट-व्यापार नहीं चल सकता। हम उसी रूप अथवा व्यापार को समर्थ अभिव्यक्ति दे सकते हैं जिसने हमारी चेतना को स्नेह-पाश में बांध लिया है। यदि मेरी

भावना अनुभूति के उस क्षेत्र में रमण करती है जिसे राम-कथा में रूप दिया गया है तो मैं अपनी चेतना के इस आयाम को पूर्ण रूप से अपनी साहित्यिक रचना में अभिव्यक्त कर सकता हूं। हां—कवि-कर्म में निष्णात होना तो आवश्यक है।

यदि मैं इस बात की ओर ध्यान न देते हुए कि भावना के स्तर पर मुझे राम-कथा के सौन्दर्य्य का साक्षात्कार हुआ है या नहीं, केवल लोक-प्रवाह के 'अनुकूल' होने की इच्छा से प्रेरित होकर इस विषय को अपनाता हूं तो मेरी अभिव्यक्ति निःसत्त्व होगी और उस में इतनी शक्ति नहीं होगी कि सहृदय को राम-कथा के सौन्दर्य्य में लीन कर सके। यहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कवि सस्ती भावुकता का वितरण नहीं करता। कविकर्म भावों की अभिव्यक्ति मात्र नहीं। यह उस पदार्थ का प्रदर्शन है जो भाव को जगाता है। भाव इस पदार्थ के दर्शन-भावन के आनुषङ्गिक परिणाम हैं। यह पदार्थ स्थूल भी हो सकता है जैसे नदी-तट और सूक्ष्म भावना का विषय भी हो सकता है जैसे राम-कथा का सौन्दर्य्य।

साहित्यकार के व्यक्तित्व की सबलता का रहस्य इस बात में ही नहीं कि उस का शब्दों पर असाधारण अधिकार है अथवा वह शब्दों की सेना का सेनानी है।

> "यस्येच्छयैव पुरतः स्वयमुज्जिहीते
> द्राग् वाच्यवाचकमयः पृतनानिवेशः।"

कोई भी शब्दकोष के गहन अनुशीलन और विपुल शब्द-भण्डार का स्वामी बन कर ही साहित्यकार नहीं नहीं बन सकता। मूलतः साहित्यकार की श्रेष्ठता उस की

विपुल भावनात्मक अनुभूति में ही है। जगन्नाटक के जिस दृश्य, जीवन के जिस व्यापार का वह चितेरा है उसका तत्संबन्धी अनुभव सामान्यजन की अपेक्षा (चाहे वह सामान्यजन कितना ही व्यवहार-पटु, कर्मठ, और 'यथार्थवादी' क्यों न हो) अधिक गहरा, अन्तर्भेदी और निर्ग्रन्थ होता है। भावनात्मक अनुभूति और व्यावहारिक सक्रियता में कोई विरोध नहीं परन्तु सामान्यजन के लिए भावना निश्चेष्टता की स्थिति है। साधारण मनुष्य संकुल घटनाओं के केन्द्र में खड़ा होकर भी उनके वास्तव अनुभव से रहित हो सकता है -- उसकी चेष्टा लहरों द्वारा उत्क्षिप्त, अवक्षिप्त तृण की ही चेष्टा हो सकती है।

यहां अंग्रेज़ी कवि और आलोचक कॉलरिज के Fancy और Imagination सम्बन्धी प्रसिद्ध विवेचन पर थोड़ा सा विचार कर लेना चाहिये। कॉलिरज ने इन दोनों के भेद पर गम्भीर विचार किया था और इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि ये दोनों मानव मन की दो भिन्न शक्तियां हैं। वह उन लोगों के साथ सहमत नहीं था जो इन्हें पर्यायवाची शब्द समझते थे अथवा एक ही शक्ति के कम और अधिक परिणत रूप मानते थे। कॉलरिज ने अपने सिद्धान्त को दार्शनिक पृष्ठाधार देने की चेष्टा की है। इस का अर्थ यह है कि उसने, साहित्य को समग्र मानव व्यापार के सन्दर्भ में देखा है। साहित्यसृजन उस के लिये निरपेक्ष कर्म नहीं, इस के मूल में विश्व और मानव मन की प्रेरक शक्तियों की आत्माभिव्यक्ति है। काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में उस के विचारों को उन के दार्शनिक पृष्ठाधार से अलग करके देखना उस के सिद्धान्त की अखण्डता को विकलित करना है। मनोविज्ञान और

आचारशास्त्र को विश्व और मानव चेतना के स्वरूप में प्रतिष्ठित होना चाहिये। परा विद्या के बिना अपरा विद्या का ज्ञान या तो शब्द जाल मात्र (उपनिषद् के अनुसार 'वाचारम्भण' मात्र) बन जाता है अथवा अपनी विकल दृष्टि के कारण कई प्रकार की भ्रान्तियों को जन्म देता है। हम देखेंगे कॉलरिज के सिद्धान्त की पृष्ठभूमि भारतीय चिन्तन के कुछ निष्कर्षों के बहुत समीप है। साथ ही उस की पद्धति भी जीवन के प्रति भारतीय दृष्टिकोण के निकट है क्योंकि इस देश ने अपने साहित्य-शास्त्र (रस, ध्वनि आदि सिद्धान्त) आचारशास्त्र (आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्—जो व्यवहार अपने को अच्छा न लगे दूसरों से नहीं करना चाहिये) और मनोविज्ञान सम्बन्धी कई निष्कर्षों को (मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः—मन ही मनुष्य के बन्ध और मोक्ष का कारण है) पर-तत्त्व सम्बन्धी अपने ज्ञान के साथ समन्वित करने की चेष्टा की है। कॉलरिज के सिद्धान्त का विवेचन करते हुए हम भारतीय चिन्तन के साथ उस के साम्य की ओर भी निर्देश करेंगे। वस्तुतः कॉलरिज अपने समय के जर्मन दार्शनिकों से बहुत प्रभावित हुआ था और जर्मन दार्शनिक भारत के औपनिषद दर्शन के सम्पर्क में आ चुके थे और मनन द्वारा उसे आत्मसात् भी कर चुके थे।

कॉलरिज का सिद्धान्त है कि मूल चिति तत्त्व ही विषयी और विषय में परिणत होता है। जिसे ज्ञान है वह विषयी है जो ज्ञेय है वह विषय। विषयी और विषय को ही आत्म और अनात्म कहा जा सकता है। हम नहीं कह सकते कि विषयी और विषय, अहं और इदं, "मैं" और

'यह', में से किस का आविर्भाव पहले होता है क्योंकि यह 'वागर्थाविव' सम्पृक्त हैं। इन का उत्थान एक साथ ही होता है। यह आद्य द्वन्द्व है। मूल चिति अपने आप को विभक्त करके आत्म और अनात्म का रूप धारण करती है। ज्ञाता और ज्ञेय को अलग करना असंभव है। ज्ञाता ज्ञेय की सत्ता के कारण ज्ञाता है और ज्ञेय ज्ञाता की सत्ता के कारण ज्ञेय। जिस प्रकार किसी पुरुष को पुत्र की सत्ता होने पर ही पिता कहना सार्थक है उसी प्रकार दृश्य की अपेक्षा में ही द्रष्टा द्रष्टा है। विषयी पुरुष है और विषय (सारा दृश्य जगत्) प्रकृति। परन्तु ये दोनों मूल में एक ही चिति तत्त्व हैं। आत्मा अथवा विषयी का समरस चैतन्य और अनात्मा अथवा प्रकृति की अनेकरूपता दोनों इस चिति तत्त्व के ही दो रूप हैं। इसी लिए इसी चिति तत्त्व को विषय 'प्रधान' और विषयी 'क्षेत्रज्ञ' दोनों का स्वामी कहा गया है।

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः-श्वेताश्वतर V 16

कहने का अभिप्राय यह है कि विषयी और विषय मूल में एक हैं और व्यवहार जगत् में प्रकट होने वाला उनका द्वैत परम सत्य नहीं। व्यवहार जगत् विषयी और विषय के आदान-प्रदान से ही जन्म लेता है। ये दोनों जब एक हो जाते हैं वही चरमावस्था—मुक्ति—है। मुक्ति में इन दोनों की एकता का साक्षात्कार हो जाने पर फिर विविधता की ओर प्रत्यावर्तन नहीं होता अर्थात् विविधता हमारे लिए सत्य नहीं रहती। परन्तु कल्पना का कार्य्य इन दोनों को सन्वित करना है, मिलाना है—कल्पना के द्वारा विषयी विषय के साथ अपनी मूलभूत एकता को

फिर से प्राप्त करना चाहता है । 'Keats' और चिड़िया के तादात्म्य का हम ने उल्लेख किया है—वह कल्पना-जन्य तादात्म्य है—कल्पना वहां भावना में परिणत हो गई है । परन्तु यह तादात्म्य शाश्वतिक नहीं ।

कल्पना के सूत्र से खिच कर विषय विषयी के पास आते हैं और भावना द्वारा आत्मसात् किए जाते हैं । सृष्टि प्रक्रिया का स्वरूप यह है कि आत्मा ही सब कुछ बन जाता है ।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानत: †
इदंसर्व यदयमात्मा,* आत्मैवेदं सर्वम्§

इसी प्रकार कल्पना की सफल परिणति होने पर कवि वह विषय बन जाता है जिस पर वह कविता लिख रहा है । कॉलरिज के इस वाक्य की सार्थकता यहां पर स्पष्ट हो जाती है कि कल्पना में मनुष्य (और भावना में कवि) असीम आत्मा की सृजन चेष्टा को ही दोहराता है । कॉलरिज प्रत्यक्ष जगत् की प्रतीति के लिए भी कल्पना को आवश्यक मानता है । मनुष्य का मन अपनी स्वस्थ अवस्था में एक सृजनात्मक शक्ति है ।

कॉलरिज ने कल्पना के दो प्रकार माने हैं—'आद्य' और अपर (Primary and Secondary) आद्य कल्पना तो वह है जिस के द्वारा हमें वृक्षों, मकानों, बन्धुओं, मित्रों वाले संसार का पता चलता है । जैसा कि हम ने ऊपर देखा है मूलत: आँखों से हम वृक्षों और मकानों को नहीं देखते । ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष तो रूपों, गन्धों, ध्वनियों, रसों का ही होता है, इन्द्रियों को फलों का अनुभव नहीं होता उन्हें तो रूप विशेष, गन्ध विशेष और विशेष प्रकार की कोमलता का ही ज्ञान

---

†ईश 1.7 *बृहदारण्यक 2.4.6 §छान्दोग्य 7.25.2

होना है। इन गुणों के संविधान संयोजन से हम आद्य कल्पना के द्वारा फूल का सृजन भी करते हैं और उस का ज्ञान भी प्राप्त करते हैं। भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार वासना ही हमारे स्थूल भौतिक जगत् की निर्माणकर्त्री है। आंखें तो रूप को ही देखती हैं—फूल को नहीं, परन्तु हम अपनी वासना—पूर्वतन संस्कार (क्योंकि फूल की अनुभूति हमें पहले भी प्राप्त हो चुकी है) के कारण फूल को देखते हैं। आँखें वासना रहित हैं। वासनाओं के कारण ही वे उन विषयों की ओर प्रवृत्त होती हैं जिन का निर्माण वासना द्वारा हुआ है। वासना हीनमप्येतत् चक्षुरादीन्द्रियं स्वतः। प्रवर्तते बहिः स्वार्थे वासनामात्र-कारणम् §। हम Coleridge की आद्य कल्पना को वासना कह सकते हैं।

हम ने ऊपर कहा है कि कल्पना के द्वारा विषयी और विषय अपनी मूलभूत एकता की ओर ही प्रवृत्त होते हैं। परन्तु 'आद्य कल्पना' अथवा वासना द्वारा निर्मित स्थूल पदार्थों के जगत् में भी तो विषयी और विषय दोनों का सम्पर्क होता है और जिस प्रकार 'अपर कल्पना' काव्य को जन्म देती है उसी प्रकार वासना अथवा आद्य कल्पना भौतिक जगत् के पदार्थों को। इस दृष्टि से साधारण मनुष्य अपनी वासना के कारण उसी प्रकार सर्जक है जिस प्रकार काव्यकार अपर कल्पना के कारण सर्जक है। साधारण मनुष्य और काव्यकार में फिर क्या अन्तर है?

वह सृजनात्मक शक्ति—कल्पना—जिस का साधारण मनुष्य वाहक है काव्यकार में अधिक ऊर्जित रूप में मिलती है। यह सृजनात्मक शक्ति रूपों, गन्धों और रसों में से

§ मुक्तिकोपनिषद् II 22

प्रतिदिन के भौतिक और व्यावहारिक जगत् का निर्माण कर के अपना व्यापार समाप्त नहीं कर देती। साधारण मनुष्य में तो यह रूप, गन्ध रस से व्यावहारिक जगत् के पदार्थों की निर्मात्री बनती है परन्तु काव्यकार को अपना वाहन बनाकर यह उन पदार्थों से 'काव्य-जगत्' का निर्माण करती है। व्यावहारिक जगत् के पदार्थों और काव्य जगत् के रूपों में वही सम्बन्ध है जो लकड़ी और कुर्सी में है। तक्षक वह निमित्त कारण है जिसकी 'सृजन' शक्ति लकड़ी को कुर्सी में परिणत करती है, उसी प्रकार काव्यकार की कल्पना-शक्ति बाह्यजगत् को काव्यजगत् में परिणत करती है। जिस प्रकार कुर्सी लकड़ी की प्रतिकृति अथवा नकल नहीं (यहां नक़ल से हमारा वह अभिप्राय नहीं जो अरस्तू के 'अनुकरण' का है) उसी प्रकार काव्य-जगत् बाह्य जगत् की नक़ल नहीं। जिस प्रकार मिट्टी कुंभकार के कौशल की आकांक्षिणी है उसी प्रकार बाह्य जगत् काव्यकार के कौशल का।

इस काव्य जगत् का क्या स्वरूप है? यह काव्यजगत् भी प्रकृति का ही अंश है। यह वह प्रकृति है जो मनुष्य की सृजनात्मक चेतना के साथ सम्पर्क में आकर उद्भासित हो उठी है। कॉलरिज ने कल्पना (अपर) की कृतकृत्यता इस बात में देखी है कि चिरपरिचित को भी यह नूतन आकर्षण शक्ति से सज्जित कर देती है। 'चिरपरिचया दवज्ञा' जिसे हम हररोज़ देखते हैं उस की ओर अधिक ध्यान नहीं देते। परन्तु वह आकस्मिक रमणीयता जो छाया और आलोक, धूप अथवा चांदनी के आलेपन से चिरकाल से जाने पहचाने दृश्यों को विलक्षण बना देती है कल्पना के कृतित्व का ज्ञान दे सकती है। कल्पना भी इसी

प्रकार से चिरपरिचित को चिर-नूतन बना देती है। काव्यजगत् की यह नूतनता मनुष्य के मानस और बाह्य प्रकृति के स्नेह-सम्बन्ध की स्मारक है। काव्यकार का मानस अधिक प्रजनन-शक्ति से सम्पन्न होता है।

प्रकृति भी दो प्रकार की है-कारण-प्रकृति और कार्य्य प्रकृति। दृश्य जगत कार्य्य प्रकृति के अन्तर्गत है। इसके पदार्थ कारण प्रकृति के व्यापार के कारण अस्तित्व में आते हैं। कवि का तादात्म्य इस कारण प्रकृति के साथ होता है। कारण प्रकृति का ही एक रूप काव्यकार की कल्पना शक्ति है। साधारण भौतिक जगत् की विधायिनी वासना को भी कारण प्रकृति का एक रूप कहा जा सकता है परन्तु वासना मानव चेतना को बद्ध कर देती है। कवि कल्पना और भावना में वासना वश्य है काव्यकार वशी परन्तु व्यवहार जगत् में वासना स्वामिनी है और साधारण मनुष्य उस का अनुगामी। दूसरे शब्दों में काव्य-कार की कल्पना इस कारण प्रकृति का ही 'अनुकरण' करती है, कार्य्य का नहीं। प्लेटो को दोहराते हुए कॉलरिज ने कहा है कि कलाकार यदि कार्य्य प्रकृति के पदार्थों और व्यापारों का अनुकरण करता है तो उसका प्रयास व्यर्थ है। वह इस प्रकृति का प्रतिस्पर्धी नहीं बन सकता। वास्तव हिमानी और काव्यकार द्वारा चित्रित अथवा वर्णित हिमानी में तुलना का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु जब कलाकार सर्जक बनता है तो हमें यह दिखाता है कि उस की कल्पना – चेतना के सृजनशील व्यापार—के साथ सम्पर्क में आकार हिमानी को कौन सा अभिनव रूप मिला है।

साधारण भौतिक जगत् के 'सृजन' में केवल मनुष्य

की ऐन्द्रिय-शक्ति अथवा स्वल्प मात्रा में मानस-शक्ति का व्यापार दृष्टिगोचर होता है। परन्तु कल्पना और भावना में उस की चेतना 'आमूलचूल'—उसकी सारी मानस शक्ति—सक्रिय होती है। ऐन्द्रिय शक्ति तो उसकी चेतना का एक अंश है। इन्द्रियों का व्यापार, मन और बुद्धि का व्यापार और अपरोक्षानुभूति जिस में विषय और विषयी में अभेद की सिद्धि होती है—इन सब से उस की चेतना का समग्र रूप निष्पन्न होता है। यह स्पष्ट है कि व्यवहार जगत् में आंशिक रूप से ही उस की चेतना व्यापार-निरत है। चेतना के पूर्णरूप से व्यापृत होने का अर्थ है सीमा का परिहार, उस विशिष्टता का त्याग जो हमें विशिष्ट, इच्छाओं और संस्कारों से प्रेरित व्यक्ति मात्र बनाती है जो अपने अहंभाव की दुर्भेद्य दीवार के कारण दूसरों से अलग हो गया है। जब काव्यकार की प्रगति विषय के साथ अभेद सिद्धि की ओर होती है तो वह अपने देशकाल बद्ध विशिष्ट व्यक्तित्व से उपर उठ कर सार्वजनीन रूप को प्राप्त करता है। प्रत्येक विशिष्ट अभिव्यक्त सत्ता के मूल में—कार्य्य-प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ के पीछे—कारण प्रकृति अविकल रूप में रहती है उसी प्रकार जैसे लहर के मूल में समग्र समुद्र। कल्पना के द्वारा विशिष्ट को सार्वजनीन का प्रतीक अथवा वाहन बना दिया जाता है। कल्पना और भावना के द्वारा विरोधी तत्वों का समन्वय होता है। कालरिज कहता है "कल्पना साम्य का वैषम्य के साथ, साधारण का विशिष्ट के साथ, भाव का उस के प्रतिफलक चित्र के साथ, व्यक्ति का प्रतोक के साथ, समन्वय करती है। इस में भाव की असाधारण अवस्था का अक्षोभ के साथ, जागरूक

निर्णयशक्ति का अविकल आत्मस्थता और गम्भीर अथवा चण्ड मनोवेग के साथ सामंजस्य रहता है और जहां यह नैसर्गिक और कृत्रिम तत्त्वों के विरोध का परिहार करके उन का सम्मिश्रण करती है वहां कला की अपेक्षा प्रकृति को, शैली की अपेक्षा विषय को, कवि के व्यक्तित्व के प्रति हमारी सद्भावना की अपेक्षा कविता के साथ हमारी सहानुभूति को, अधिक महत्त्व देती है"।

वस्तुतः इन सब द्वन्द्वों के सामंजस्य के मूल में विषयी और विषय का सामंजस्य ही निहित है। शाङ्कर वेदान्त के अनुसार तो प्रत्येक प्रकार के अनुभव में चाहे वह इन्द्रियों के स्तर पर हो (देखना और चखना आदि) अथवा मन और बुद्धि के स्तर पर विषयी और विषय एक हो जाते हैं यद्यपि साधारण अवस्था में हमें उन के इस तादात्म्य का ज्ञान नहीं हो पाता। अन्यथा ज्ञान की सफल प्रवृत्ति का समाधान कठिन हो जाता है क्योंकि यह निर्णय करना असंभव है कि अनुभूत गुण ज्ञाता के हैं अथवा ज्ञेय के। यदि मैं कहूं कि मधुरता दूध की है तो इस का प्रमाण उत्तर इन्द्रिय व्यापार ही होगा। मधुरता का प्रमाण यही है कि में उसे दूसरी बार चखूं और दूसरी बार ज्ञान की सफल प्रवृत्ति का प्रमाण यह है कि इसे तीसरी बार चखूं। इस प्रकार एक "दुष्चक्र" आरम्भ हो जायगा। हमें यहां ज्ञान मीमांसा अपेक्षित नहीं परन्तु यह प्रश्न स्वाभाविक है कि यदि प्रत्येक अनुभव में अद्वैत की सिद्धि होती है, तो काव्य में निष्पन्न होने वाले इस 'अद्वैत' अथवा सामंजस्य का क्या स्वरूप है। वस्तुतः कल्पना द्वारा संपन्न इस सामंजस्य के कारण प्रकृति मानव

के पुष्कल चैतन्य व्यापार का प्रतीक बन जाती है। जब हम बुद्ध प्रतिमा की अविकल प्रशान्त मुद्रा को देखते हैं तो हमें यह न भूलना चाहिए कि वहां इसी भावना शक्ति के कारण जड़ पत्थर को 'तथागत' के अविकल प्रसाद का प्रतीक बना दिया गया है । पारंगत की "आत्मरति" आत्मक्रीडा एक ऐसा अनुभव है जिसका प्रतिरूप बाह्य प्रकृति में नहीं मिलता। परन्तु कलाकार उसी बाह्य प्रकृति को इस अनुभव का वाहक बना देता है। यह कल्पना का ही व्यापार है। कल्पना के पौरोहित्य से मानव चेतना का बाह्य रूपों के साथ ग्रन्थिबन्धन होता है। मनःप्रसाद जो आन्तर धर्म है वह बाहिर अवभासित होता है और पत्थर अथवा रंग जो बाहिर हैं चैतस आन्तर धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण अपनी बाह्यता को खो देते हैं। इस प्रकार कल्पना अथवा भावना के कारण ही कला "आन्तर को बाह्य और बाह्य को आन्तर" बनाती है।

इस प्रकार विषय और विषयी अपने पार्थक्य को खो देते हैं। काव्यकार इसीलिए प्रजापति है सर्जक है क्योंकि वह प्रकृति में मानवचेतना का आधान करता है। प्रकृति में काव्यकार की आत्मा का अवतार होता है। मानव की चेष्टाएं, मुखमुद्राएं, मनो-भंगिमाएं प्रकृति में विलसित हो उठती हैं। प्रकृति और मन के इस आलिंगन से ही उन के पार्थक्य का नाश होता है। कल्पना में जितना वेग होगा, भावना में जितनी परिणति अथवा गहराई होगी उतना ही अधिक प्रकृति का "मानवीकरण" होगा। काव्य विषय के साथ विषयी के मिलन की गाथा और स्मृति-चिह्न है। विषय—प्रकृति—का मानवीकरण

तो होता ही है—मानव चेतना में प्रकृति भी अपने गुणों का निवेश करती है। मन और प्रकृति के स्नेह का अर्थ है दोनों का आदान-प्रदान। यदि नदियां फेन में "मुस्करा" उठती हैं अथवा पर्वत हिम-किरीट पहन कर गौरव से सम्पन्न हो जाते हैं अथवा निशा किसी को प्रतीक्षा के लिए दीपावलि रचती है अथवा उषा तारक फलों का चयन करती है और वसन्त में लताएँ शृङ्गार-प्रसाधन में निरत हो जाती हैं तो हम प्रकृति में मानव चेतना का संक्रमण देख कर आनन्द का अनुभव करते हैं। यह प्रकृति का मानवीकरण है। परन्तु जहां आंखों में बादल घिरते हैं, हृदय भावों से "सुरभित" होता है, प्रणय पाटल के राग से चित्त को रंजित करता है, वहां प्रकृति अपने धर्मों से मानव चेतना को समृद्ध करती है। इस प्रकार प्रकृति और मन का मिथुनीकरण होता है। यदि मन कृष्ण है और प्रकृति राधिका तो कल्पना वह सखी है जो दोनों के वैमनस्य को दूर करती है जो दोनों को एक दूसरे की ओर प्रवण करती है, दोनों की संदेश वाहिका बनती है और चेतना के निभृत कुँजों में दोनों की मिलन केलि को देखकर हर्षित होती है। वैज्ञानिक कह सकता है कि मेरे लिए प्रकृति का रहस्य खुल ही चुका है-परन्तु कवि के लिए वह चिर नूतन है क्योंकि यह दूती नायक को उस रामा के क्षण में क्षण में बदलने वाले रूप संभार की याद दिलाती रहती है। कल्पना के दौत्य के कारण ही कवि कह सकता है—

> जनम अवधि हम रूप निहारिलु
> तबहु न तिरपित भेल।

भी। साहित्य की अन्य विधाओं में- नाटक, निबन्ध, उपन्यास में भी गद्य का प्रयोग होता है और यहां हम शब्दों का अधिक सजग प्रयोग देखते हैं। इन विविध व्यापारों, भूमिकाओं और प्रसंगों में हम शब्दों का प्रयोग करते हैं परन्तु इन की अन्तश्चेतना और अन्तःस्पन्दन से जितना कवि का परिचय होती है उतना और किसी का नहीं।

शब्दों के दैनन्दिन प्रयोग में व्यवहार पक्ष प्रधान होता है। इस दैनन्दिन जीवन मे भी जब ऐसी परिस्थिति आती है जिस में भाव की ऊर्जा अथवा कोमलता की अभिव्यक्ति अभिप्रेत होती है भाषा में कलात्मक सौन्दर्य झलक उठता है। परन्तु साधारणतया इस प्रकार के व्यावहारिक प्रयोग का गद्य अपनी साधुता के संबन्ध में बहुत सावधान नहीं होता। हमारा उद्देश्य होता है काम चलाना, प्रयोजन-सिद्धि। ऐसी स्थिति में शब्दापशब्द विवेक स्पष्ट नहीं हो पाता। वस्तुतः ऐसे गद्य में और साहित्यिक गद्य में अभिव्यंजना शक्ति की दृष्टि से उतना ही अन्तर रहता है जितना पत्रकारिता के गद्य और कविता में।

वैज्ञानिक जिन शब्दों का प्रयोग करता है उन की अर्थवत्ता को प्रत्यक्ष तक ही सीमित रखने की चेष्टा करता हैं। ध्वनि और व्यंजना का सूक्ष्म चक्रवाल जो साधारणतया शब्दों को घेरे रहता है विज्ञान के स्पर्श से खण्डित हो जाता है। यहां वाचक और वाच्य का संबन्ध सीधा, असंदिग्ध और स्थूल पद्धतियों से निर्णय होना चाहिये। विज्ञान में अभिधा शक्ति का ही साम्राज्य है और अभिधेयार्थ ही स्वीकृत होता है। शब्द संकेतित पदार्थ अथवा संबन्ध को सामने लाने के साधन मात्र हैं। यहां वाचक की

अपनी कोई महत्ता नहीं । रिचर्डस् के अनुसार विज्ञान की भाषा बाह्यार्थपरक (Referential) होती है और कविता की भावोद्बोधक । यह विभाजन दोषपूर्ण है और हम इस पर आगे विचार करेंगे परन्तु इस में सन्देह नहीं कि विज्ञान की भाषा का लक्ष्य यही होता है कि वह मानस भावों से निरपेक्ष होकर भौतिक परिवेश में विद्यमान पदार्थों और सम्बन्धों की सूचक बने ।

साहित्यिक गद्य में शब्दों की सब शक्तियों का प्रयोग लक्षित होता है । शब्द बहुधर्मा होते हैं । सजग गद्यकार के द्वारा उन का प्रयोग उन में प्राण-प्रतिष्ठा कर देता है । इस प्रकार प्राणवान् होकर ही वे मानव जीवन के संकुल अनुभव के वाहक बनते हैं । ध्वनि, लय, व्यंग्यता, शब्द की अर्थ-समृद्धि में सहायक होते हैं । गद्यकार इस प्रकार अधिक विपुल अर्थ-भूमि पर विचरण करता है । वह केवल अभिधेयार्थ का ही प्रयोग नहीं करता । उस के शब्द रंग, रस, और गन्ध लिए रहते हैं । उन में प्रयोक्ता की व्यक्ति गत और जातिगत विशेषताएँ संपुटित रहती है । वे अपना उत्सर्ग कर के अर्थ के लिए स्थान नहीं बनाते । उन की ध्वनि, लय, ह्रस्वता, दीर्घता अर्थ को संपन्न करती हैं, अर्थ का सघटक अवयव बन जाती हैं ।

साहित्यिक गद्य के ये गुण कविता में अधिक ऊर्जित रूप में हमारे सामने आते हैं । कवि के लिए शब्द की अन्तरात्मा हस्तामलकवत् होती है । शब्द प्रयोग मानव जीवन का व्यापार है और व्यक्ति की चेतना का स्तर उस चेतना को प्रतिफलित करने वाले शब्दों में मिलता है । जिस प्रकार हम जीवन के हर्ष और अवसाद के

विशेष अवसरों पर विशेष वेष धारण करते हैं वैसे ही हमारी चेतना भाव के उदात्त अथवा अनुदात्त स्तर को देख कर उस की अभिव्यक्ति के लिए गद्य अथवा पद्य को चुन लेती है। अवसर के अनुसार ही वाणी सूती, ऊनी अथवा कौशेय वस्त्र धारण करती है।

शब्दों की महत्ता का पता कविता में प्रयुक्त शब्दों के स्वरूप पर विचार करने से लगता है। वस्तुतः शब्द-कोष से किसी शब्द विशेष के अर्थ की सीमाओं का पता नहीं चलता। वैज्ञानिक जिस प्रकार फूल के कुच्छ गुणों का आकलन नहीं कर सकता (उस के सौन्दर्य्य में समाहित गुणों का) उसी प्रकार उस की भाषा शब्दों के सब गुणों को ग्रहण करने में असमर्थ है। चिरकाल से प्रयुक्त होने के कारण और मानव जीवन की बहुविध अनुभूतियों के सन्दर्भ में विविध प्रकार के प्रभावों को आत्मसात् करने के कारण शब्द अपने लोक-प्रसिद्ध, संकेतित अर्थ के अति-रिक्त हमारे भाव-जगत् की सूक्ष्म, तरल भंगिमाओं से संयुक्त हो जाते हैं। अंग्रेजी का रोमैण्टिक शब्द ऐसा ही है जिस के साथ चांदनी रातों की माया, प्रथम प्रेम की मधुरता, अतीत की स्मृतियों के अन्तःस्फुरण से मुग्ध हृदय, निशीथ की नीरवता को तरलित करने वाली किसी प्रणय-राग की मूर्छना, श्यामल नीरन्ध्र वन-राजियाँ, पुराकालीन युद्धों की स्मृतियों को अन्तस्तल में दबाए हुए मूक किलों के खण्डहर, साहसिक कृत्य,—इन सब की प्रत्यक्ष अथवा मानस अनुभूति संबद्ध है। कवि जो शब्दों के इस विपुल अन्तर्निहित जीवन से परिचित है इन अनुभूतियों को ऐसे शब्द के उच्चारण के साथ ही अपने हृदय में उन्मीलित होते हुए पाता है। इस प्रकार शब्द के 'बौद्धिक अर्थ'' के

के साथ, भाव-छवियों, भाव-ध्वनियों, संचारिणी कल्पनाओं, व्यंजनाओं का परिवेश सा रहता है । ये सहवर्ती परिवेष भी अर्थ का अँग है परन्तु तार्किक, वैज्ञानिक इस को निरस्त करके बौद्धिक अर्थ तक पहुंचने की चेष्टा करता है, उसी प्रकार जैसे वैज्ञानिक फूल के सौन्दर्य्य को जो परिमेय नहीं निरस्त कर के उस के उन्हीं गुणों का आदान करता है जो वैज्ञानिक पद्धति द्वारा ग्राह्य हैं । इस प्रकार से शब्द कविता में अपने पूर्ण अविकल रूप में—अपनी ध्वनि सौन्दर्य्य वर्ण-स्वारस्य, और भाव-विभूति के साथ—विद्यमान रहते हैं; अन्यत्र वे खण्डित हो जाते हैं ।

अर्थ की इस समग्रता का ज्ञान कवि को होता है । इस समग्रता के उपादानों में भावात्मकता का विशेष स्थान है । चिरन्तन साहचर्य से पदार्थों में भावोद्बोधक शक्ति आती है । जिस स्थान में हम बहुत देर तक रहे हैं या जिस वस्तु का प्रयोग चिरकाल तक किया है—उन में हमारे भावों को जगाने की शक्ति अपरिचित पदार्थों की अपेक्षा अधिक होती है । इसी प्रकार कविता के लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग प्रशस्त नहीं जो सर्वथा अप्रचलित हैं और जिन्हों ने सामान्य जीवन में अनुभूतियों के आदान-प्रदान में कोई भाग नहीं लिया कवि अप्रचलित शब्दों के प्रयोग से अपना पाण्डित्य दिखलाने की चेष्टा नहीं करता । प्रचलित शब्द जो साधारण लोगों के मतिमान्द्य, शिथिलता अथवा रूढिवादिता के कारण विकल' हो गए हैं उस की अन्तर्गाहिनी दृष्टि से सकल' हो जाते हैं, यद्यपि मूलतः कवि की अनुभूति ही इस 'सकलता' का विधान करती है । अनुभूति और अभिव्यक्ति वस्तुतः एक ही व्यापार के दो छोर हैं । जहां अनुभूति वास्तव और गहन होती है

वहाँ उस की अभिव्यक्ति के लिए मस्तिष्क को व्यायाम नहीं करना पड़ता । वहां वह स्वतः ही ऐसी शब्दों में ढल जाती है जो भाव, विचार और इच्छा अथवा संकल्प-शक्ति को समन्वित कर देते हैं ।

यह कहना ठीक नहीं कि कुच्छ शब्द दूसरों की अपेक्षा कविता के लिए अधिक उपयुक्त हैं । शब्द का धर्म यह है कि विवक्षा की पूर्ति का साधन बन, जो कुछ हम कहना चाहते हैं उस का पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करे । शब्दों की प्रसिद्धता अथवा अप्रसिद्धता भी सापेक्ष धर्म है । विद्वत्समाज में जो शब्द समृद्ध भावना का वाहक है साधारण जन के लिए निरर्थक ध्वनि-समूह भी हो सकता है अथवा मात्र बौद्धिक अर्थ का सूचक भी । वस्तुतः अभिव्यक्ति की प्रभविष्णुता को देखना आसान काम नहीं । इस में पात्र श्रोता, वक्ता, सामाजिक राजनीतिक सन्दर्भ आदि कई तथ्यों का ध्यान रखना पड़ता है । तत्सम अथवा तद्भव शब्दों की समीचीनता का परीक्षक यह सन्दर्भ ही होता है । हम जानते हैं कि प्राचीन भारत के सांस्कृतिक स्वरूप का ग्रहण करने के लिए तत्सम शब्दों का प्रयोग उचित ही है । यह प्रश्न हो सकता है कि वैज्ञानिक सन्दर्भ में प्रयोग में आने वाले शब्द भी अपने अपने आशय को सम्यक् रीति से प्रकट कर देते हैं । क्या वे भी काव्योपयुक्त होंगे ? उत्तर यह है साहित्य में विवक्षित पदार्थ और प्रकार का होता है । साहित्य का उद्देश्य शब्दों के व्यवहार - सम्मत अर्थों से ही सिद्ध नहीं होता और न ही यहां शब्द केवल बुद्धि ग्राह्य आशय को अभिव्यक्ति करना चाहते हैं । हमारी चेतना में बुद्धि और भाव के लिए अलग अलग प्रकोष्ठ नियत

नहीं हैं। साहित्यकार की मनः स्थिति में दोनों घुले मिले रहते हैं। अनुभूति के इस विशेष स्वरूप को जिस में हृदय और बुद्धि युगनद्ध रहते हैं साधारण रीति से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। इस अनुभूति की विशेषता यह है कि साहित्यकार को भी अभिव्यक्त कर के ही इस का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। ध्वनिकार के शब्दों का प्रयोग करते हुए हम कह सकते हैं कि रूपवती के शरीर में अनुविद्ध लावण्य की तरह इस अनुभूति में अर्पित लावण्य अथवा शक्ति इस का अविच्छेद्य अङ्ग है और अनुभूति की अभिव्यक्ति का अर्थ है शब्दों को अनुभूति की विशिष्ट भगिमाओं का वाहन बनाना।

प्रसाद के काव्य कामायनी को लें। इस की कथा का वर्णन साधारण शब्दों में भी किया जा सकता है अलंकृत गद्य में भी और पद्य में भी जैसा कि प्रसाद ने किया है। कामायनी काव्य के एक एक पद्य का भावार्थ प्रस्तुत किया जा सकता है परन्तु यह भावार्थ प्रसाद की कामायनी के आशय को पूर्णतया प्रगट नहीं कर सकता। प्रसाद का आशय ऐसे भावार्थ में विकलित रूप में ही हमारे सामने आता है। कामायनी में प्रसाद क्या कहना चाहते हैं—इस के उत्तर में न तो कामायनी की कथा को दे सकते हैं न उस के दार्शनिक पक्ष का विवेचन कर सकते हैं। कामायनी की कथा का. उस के दर्शन का, बुद्धि द्वारा ग्रहण हो सकता है, परन्तु यह काव्य अपने अनेकधा विलसित सौन्दर्य्य में बौद्धिक विश्लेषण की पकड़ में नहीं आता। इस काव्य का बुद्धि-निष्ठ पक्ष तो स्पष्ट है और हम इसी पक्ष का गद्य में विवरण दे सकते

हैं परन्तु यह पक्ष कामायनी की समग्रता का एक अंश मात्र है। अपने आशय को पूर्णतया अभिव्यक्त करने के लिए ही कवि ने यह काव्य लिखा और इसे लिखकर ही अपनी अनुभूति को वह अविकलरूप में जान सका। यह अविकल प्रतिफलन छन्द और भाषा की शक्ति के कारण ही निष्पन्न हुआ है क्योंकि कवि का विवक्षित अनुभूति का बुद्धि सम्मत विवरण ही नहीं, वह तो अनुभूति को ही अपनी समस्त सजीवता और स्पन्दन के साथ सहृदय के हृदय में उद्बुद्ध करना चाहता है। साहित्य की भाषा अपने चरम विकास में यही गुण रखती है—वह अनुभूति का विवरण नहीं देती-अनुभूति को ही उसकी समस्त तथता में देती है। हमें यह यदि रखना है कि अनुभूति का समग्रता से उन्मीलन उस के आलंबन को बिशद करने से ही होता है।

इसी आधार पर हम साहित्यिक गद्य और समाचार पत्रों की भाषा के अन्तर को स्पष्ट कर सकते हैं ? समाचार पत्र में किसी घटना का विवरण कुतूहल का शमन कर सकता है परन्तु साहित्यकार घटना के विवरण के साथ साथ जागरूक चेतना में उत्थापित अनुभूतियों को भी देता है। साहित्यिक गद्य में दी गई घटना और साधारण समाचार-पत्र में दी गई उसी घटना का अन्तर चेतना के दो धरातलों का अन्तर है। साहित्यकार का भावोन्मेष साधारण पत्रकार की भाषा द्वारा नहीं पकड़ा जा सकता। दोनों प्रकार की भाषा में अन्तर है क्योंकि चेतना के गुण भिन्न भिन्न हैं। पत्रकार का विवरण भाषा की अन्तर्निहित शक्तियों के प्रयोग के द्वारा मानव चेतना

के गहरे स्तरों को स्पर्श नहीं करता। वह साधारण कोटि के मन को सम्बोधित करता हैं जिस की भावनात्मक शक्ति व्यवहार के दुराग्रह के कारण समंजस नहीं हो पाती। साहित्यकार की भाषा अपने पूर्ण उन्मेष में पाठक की अहंभावना को विगलित कर देती है। सहृदय विषय, व्यापार अथवा घटना में पूर्णतया लीन हो जाता हैं। उस के लिए घटना नाना प्रकार की अर्थ-ध्वनियों से झङ्कृत हो उठती है। पत्रकार के विवरण को एक बार पढ़ कर हम परे रख देते हैं। परन्तु साहित्यकार हमें बार बार अपनी एक ही रचना को पढ़ने के लिए निमन्त्रित करता हैं। उस की कृति हमें नये तथ्य नहीं देती और न ही हमारे ज्ञान का वर्धन करती है—परन्तु उसके द्वारा हम चेतना के नये लोकों में अवश्य प्रवेश करते हैं, नई अनुभूतियों के अनुरणन को सुनते हैं, मानव जीवन को नये आलोक में विलक्षण अर्थवत्ता से मण्डित देखते हैं। चेतना की यह चमत्कृति साहित्य की भाषा के कारण ही सभव होती हैं।

रिचर्डस् ने विज्ञान और कविता की भाषा के जिस अन्तर की ओर निर्देश किया है वह काफी प्रसिद्ध हो चुका है। उस के अनुसार विज्ञान की भाषा का उद्देश्य है विषयों की ओर सङ्केत करना और कविता की भाषा का उद्देश्य है मनोभावों का उद्बोधन। परन्तु इस प्रकार का अन्तर सदोष है। विज्ञान की भाषा यदि विषयों की ओर निर्देश करती है तो काव्य की भाषा भी इस प्रकार के निर्देश से रहित नहीं। वस्तुतः वैज्ञानिक की तरह कवि भी ऐसे जगत् में विचरण करता है जिस में विषय और विषयी दोनों की सत्ता है। यह और बात है कि विज्ञान के विषय काव्य के विषयों से भिन्न हैं परन्तु इस दृष्टि से

तो व्यवहार जगत् के स्थूल विषय—मिट्टी, पानी, पौधे, सड़कें—भी विज्ञान के विषयों से भिन्न हैं। विज्ञान के लिए व्यवहार जगत् का पत्थर पत्थर नहीं धन और ऋण विद्युत्कणों का जटिल व्यूहन है, अथवा ऐन्द्रिय संवेदनाओं का चक्र, अथवा समुच्चय है। वस्तुतः जहाँ भी किसी भाव की सत्ता होती है वहां उस भाव का आलम्बन अवश्य रहता है। प्रत्येक भाव के साथ किसी स्थिति, व्यापार अथवा विषय का मूल्यांकन लगा रहता है। यदि मैं हर्ष का अनुभव कर रहा हूं तो मेरी चेतना में कोई विषय अवश्य विद्यमान है जिस की प्रतीति हर्ष को जगा रही है। इसी प्रकार काव्य में भी विषय का ग्रहण अवश्य होता है। परन्तु जिस प्रकार विज्ञान का पत्थर जो विद्युत्कणों का कलाप है व्यवहार जगत् के पत्थर से भिन्न होता हुआ भी विशेष वास्तवता से संपन्न है उसी प्रकार कवि का पत्थर व्यवहार जगत् के पत्थर के समान प्रयोग में तो नहीं लाया जा सकता परन्तु इसी से उसकी वास्तवता का अपलाप नहीं हो जाता। अपने आप में काव्य का विषय उतना ही वास्तव और सुनिर्दिष्ट है जितना कि विज्ञान का विषय। कवि की भाषा का उद्देश्य उसी प्रकार विषय की ओर निर्देश करना है जिस प्रकार विज्ञान के सूत्र उस के प्रकृत विषयों की ओर निर्देश करते हैं। व्यवहार जगत् की भाषा विज्ञान के सूत्रों के कंकालों की अपेक्षा अधिक मांसल है क्योंकि व्यवहार जगत् में उस भाव-तत्त्व की सत्ता है जिसे निर्वासित करके ही विज्ञान अपने राज्य में शान्ति की व्यवस्था कर सकता है। कवि के जगत् में यही भाव तत्त्व और भी ऊर्जित रूप में मिलता है। अतः काव्य के विषय

जिनका साक्षात्कार भावना के द्वारा ही हो सकता है एक विशिष्ट प्रकार की योग्यता से संपन्न व्यक्ति को ही अपना रूप दिखाते हैं। विज्ञान और व्यवहार के विषयों के सम्बन्ध में भी यह बात सत्य है। क्योंकि काव्य के विषय मानव चेतना के कई स्तरों के साथ आश्लिष्ट है उनका स्वरूप निर्देश विशिष्ट प्रकार की भाषा में ही हो सकता है।

वस्तुतः कविता की भाषा विज्ञान की भाषा की अपेक्षा अधिक वस्तु–निष्ठ और प्राकृतिक है। दैनन्दिन व्यावहारिक भाषा विज्ञान की अपेक्षा कविता के अधिक निकट है क्योंकि कविता की तरह यहां भी हम मनुष्य को अपनी अन्तरात्मा (जिसमें ऐन्द्रिय संवेदनाएँ, मानस भाव, बौद्धिक प्रतीतियां सभी का समाहार है) को अभिव्यक्त करते हुए पाते हैं। साहित्य की भाषा व्यावहारिक भाषा की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित और व्यंजक होती है। इसमें शब्द-शक्तियों—अभिधा, लक्षण, व्यंजना – का इस प्रकार से प्रयोग होता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व के सभी स्तर अभिव्यक्ति पा सकते हैं। विज्ञान की भाषा में हम मनुष्य के परिमेय रूप को ही ग्रहण कर सकते हैं—परन्तु भाव, विचार, मूल्य-भावना जो मनुष्य के व्यक्तितत्व के अपरिमेय पक्ष हैं इसमें अभिव्यक्त नहीं हो सकते। मानव व्यक्तितत्व के इन अपरिमेय पक्षों को अभिव्यक्ति व्यावहारिक भाषा में हो तो सकती हैं परन्तु उस व्यवस्थित स्पष्ट और अव्याहत रूप में नहीं जैसे साहित्य की भाषा में। क्योंकि कविता की भाषा शब्द के अर्थ-पक्ष और ध्वनि-पक्ष दोनों के प्रति सजग है, इसलिए अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए यह दोनों पक्षों का प्रयोग करती है। इस दृष्टि से भी यह

व्यावहारिक भाषा की प्रोन्नत अवस्था को दिखाती है—व्यावहारिक भाषा में अर्थ-पक्ष का प्रयोग तो होता है परन्तु ध्वनि पक्ष का प्रयोग उद्देश्य-सिद्धि के लिए कादाचित्क ही होता है। साधारणतया व्यावहारिक भाषा में अर्थ-पक्ष का प्रयोग भी भावना को उन्मीलित करने के लिए नहीं सूचना देने के लिए अथवा किसी कार्य व्यापार की ओर अग्रसर करने के लिए ही होता है। साहित्य की भाषा साहित्यकार की भावना को सहृदय में संक्रान्त कर देती है। भावना के संक्रमण का अर्थ यह है कि कवि सहृदय का चेतना को अधिकृत कर लेता है। सहृदय की जीवन-प्रक्रिया को आत्मसात् कर लेता है केवल उसको बौद्धिक प्रयास के लिए कटिबद्ध नहीं करता। साहित्य की भाषा अनुगुण भावना का सहृदय में उन्मीलन करती है—इस का अर्थ है सहृदय के समक्ष कवि के विषय अथवा पदार्थ का स्वरूप खड़ा कर देती है। इस अनुभूति में भावना और विषय का विच्छेद संभव नहीं।

उत्तम कोटि के साहित्य—विशेषतः कविता—का अनुवाद करना कठिन होता है क्योंकि उस में शब्दों के केवल बौद्धिक अर्थों का प्रयोग नहीं किया जाता। बौद्धिक अर्थों में प्रयुक्त शब्द केवल विषय की ओर संकेत कर देता है, उस से न तो विषय के धर्मों का पता चलता है और न ही विषयी अर्थात् शब्द का प्रयोग करने वाले की मनःस्थिति का। बौद्धिक प्रक्रिया द्वारा अर्थों का विकलन हो जाता है। वैज्ञानिक और स्थूल व्यावहारिक दृष्टि से शब्दों का प्रयोग करने वाले व्यक्ति के लिए पृथ्वी, धरा, और वसुधा पर्याय-वाची हैं; वह किसी सन्दर्भ में इन में से एक

को हटा कर दूसरे को रख सकता है। परन्तु कवि ऐसा नहीं कर सकता। उसके लिए प्रत्येक शब्द सजीव है। जब वह नदी के लिए तरंगिणी शब्द का प्रयोग करता है तो उस के सामने नदी के और व्यापार होते हैं और 'सरिता' 'तटिनी, 'शैवलिनी' अथवा 'धारावती' शब्दों का प्रयोग करते समय और। जब वह महादेव को 'चन्द्रमौलि' कहता है तो उस समय उस का अभिप्राय वही नहीं होता जो महादेव को 'उग्र' अथवा 'रुद्र' कहने से ध्वनित होता है। अतः कवि के लिए भाषा में पर्यायवाची शब्द नहीं होते, एक शब्द दूसरे का स्थान नहीं ले सकता। विज्ञान और तर्कशास्त्र में शब्दों के अर्थ निश्चित, निर्दिष्ट और ध्रुव होते हैं परन्तु काव्य में शब्द सन्दर्भ से अर्थवत्ता ग्रहण करते हैं। कवि नये सन्दर्भों में शब्दों को नूतन अर्थ छवियों से भर देता है। अतः कविता में अर्थ को समझने का अभिप्राय यह नहीं कि हम ने शब्दों के कोष गत अर्थ को अधिगत कर के उसके रहस्य को जान लिया है—यहां अर्थ का अर्थ है कवि की भावना के साथ तादात्म्य, उसके जीवन-व्यापार में प्रवेश। उत्तम साहित्य में शब्द अपरिवृत्तिसह होते हैं—उनके स्थान पर उनके पर्यायवाची शब्दों को नहीं रखा जा सकता —यह हम ने देखा है। शब्द शैली का सब से महत्व पूर्ण अंग हैं और शैली जैसा कि कहा गया है मनुष्य के व्यक्तित्व-से भिन्न नहीं। यह मनुष्य का वाङ्मयवपु-शाब्दिक प्रतिरूप है। यदि शब्द परिवृत्तिसह होंगे तो साहित्य विवरणात्मक विवेचनात्मक गद्य की ओर झुका रहेगा जिस का आदर्श तर्कशास्त्र और विज्ञान हैं। शब्द भाव अथवा विचार के वस्त्र बन जाएँगे जिन्हें जीर्ण होने पर हम छोड़ देते हैं और

नये वस्त्रों को ग्रहण करते हैं।

वस्तुतः काव्य में शब्द, ध्वनि समूह, भाव, विचार, वातावरण, कथा वस्तु आदि का संग्रथन रहता है। यह एक चक्रव्यूह है जिस में सभी उपर्युक्त तत्त्वों का व्यूहन होता है। इस व्यूह की समग्रता को ध्यान में रखते हुए हम किसी भी तत्त्व को परीक्षण, विश्लेषण का विषय बना सकते हैं अथवा किसी भी तत्त्व का आनन्द ले सकते हैं। शब्दों को वह सूत्र भी कह सकते हैं जिन में भाव, कथा वस्तु आदि पिरोए हुए हैं। यहां यह कहना ठीक नहीं कि भाव विचार आदि अन्तर्वर्त्ती तत्व हैं और शब्द बहिर्वर्ती। वस्तुतः इस प्रकार से विषय और शैली का द्वैधीकरण साहित्य के वास्तव रूप के सम्बन्ध में भ्रान्ति उत्पन्न कर सकता है और हम भाव और भाषा अथवा शैली में कुछ वैसे ही सम्बन्ध की धारणा बना लेते हैं जो वस्त्रों और उन के धारयिता में है। यह कहना भी ठीक नहीं कि भाव आदि शब्द-व्यूह में उसी प्रकार रहते हैं जैसे कि जड़ वादियों के एक वर्ग के अनुसार मन शरीर में रहता है -- सन्दूकची में बन्द वस्तु की तरह। जिस प्रकार मिट्टी, लकड़ी, आदि की स्थिति बाह्य जगत् में है परन्तु भवन निर्माण में प्रयुक्त होने पर वे एक समष्टि के अँग बन जाती हैं उसी प्रकार साहित्यिक कृति में शब्द, भाव आदि एक समष्टि के अवयव हैं अन्योऽन्याश्रयी हैं, एक दृष्टि से दोनों 'अन्तर्वर्त्ती है, दूसरी दृष्टि से दोनों बहिर्वर्त्ती अथवा आन्तर और बाह्य का भेद निराधार है। कविता में शब्द उस मार्ग के समान नहीं जिस का उद्देश्य यह है कि हमें गन्तव्य तक पहुंचा दे। भाव, विचार आदि गन्तव्य नहीं। कविता का भावार्थ कविता का स्थान नहीं ले सकता

क्योंकि उस का अर्थ वह समष्टि है जिस में शब्द, भाव दर्शन, कथा—वस्तु, उपादानों के रूप में संदृब्ध हैं। जिसे हम भावार्थ कहते हैं वह इस समष्टि का एक अँग है परन्तु यहां अंग और अंगो का सम्बन्ध वैसा ही है जैसा चित्र और रेखाओं का अथवा ध्वनियों और गीत का। अंगी अंगों को निरस्त कर के नहीं विशेष प्रकार से आत्मसात् करके निष्पन्न होता है।

साहित्यिक कृति को एक बहुभूमिक भवन से तुलना दी जा सकती है। शब्द, ध्वनि, छन्द आदि को सबसे नीचे वाली भूमि माना जा सकता है और दर्शन, कथावस्तु को उपरितन भूमियों के रूप में ग्रहण किया जा सकता है! हम इन भूमियों में सी कहीं भो विश्राम कर सकते हैं। परन्तु इन का पृथक्करण संभव नहीं। जिस प्रकार देह और मन मनुष्य के पूर्ण व्यक्तित्व के धर्म हैं। इन को अलग नहीं किया जा सकता उसी प्रकार कविता में भाव और शैली भी एक ही तत्त्व के दो अलग अलग दृष्टिकोणों से देखे गए दो रूप हैं।

भावना स्वयमेव शैली का विधान करती है जैसे पानी स्वयमेव अपने प्रवाह-मार्ग को बनाता है। शैली का उद्देश्य है व्यक्तिगत अनुभूति की विशिष्टता को ग्रहण करना। वस्तुतः इन्द्रियगोचर जगत् की भी अनुभूति सब के लिए एक जैसी नहीं होती। अनुभूति की विशिष्टता विशेषतः उन तत्त्वों के कारण उत्पन्न होती है जो विषयी के संस्कारों के साथ संबन्ध रखते हैं। प्रत्येक अनुभव विषयी और विषय के मिलन से संपम्न होता है अर्थात् विषयी के मानस संस्कार अनुभूति के अच्छेद्य अंग बन जाते हैं। एक बच्चा इन्द्रियगोचर धर्मों के समुच्चय के रूप

में माता पिता के लिए और राह चलते पथिक के लिए समान है परन्तु माता पिता की अनुभूति इतनी भिन्न इसलिए है क्योंकि उस में असंख्य मनोगत भावों का सम्मिश्रण है। दो उत्तम कोटि के कलाकारों की विविध शैलियों के अन्तर को स्पष्ट करने का अर्थ है उन की अनुभूतियों के अन्तर को स्पष्ट करना। यदि एक छन्दोबद्ध भाषा को अपनाता है और दूसरा गद्य को तो हमें यह देखना चाहिए कि क्या उनकी अनुभूतियों अथवा विषयों के सफल प्रतिफलन के लिए ये दो भिन्न विधाएँ अनिवार्य थीं। यह अनुभूति शैली का अन्तःस्पन्दन है। जहां इस का अभाव है वहां अलंकारों का झणत्कार अयथार्थ और अमङ्गल्य बन जाता है। कामायनी की भाषा को इसलिए अप्रशस्त नहीं कहा जा सकता कि वह जनता की भाषा से दूर है। जन—भाषा की परम्परा और काव्य भाषा की परम्परा एक ही हो ऐसा कोई विधान नहीं। छायावाद की भाषा उस परंपरा में है जिसमें संस्कृत के उदात्त प्रबन्धों की रचना हुई है। हमें तो यह देखना है कि साहित्यकार की शैली साहित्यकार की अनुभूति को उसकी सारी भङ्गिमत्ता में रूपायित कर सकी है या नहीं। हमें यह याद रखना होगा कि यह अनुभूति भावनात्मक है, एक ऐसे विषय से संबद्ध है जिस का कवि सृजन भी करता है और दर्शन भी।

साहित्यकार का उद्देश्य है अपनी अनुभूति के लिए उपयुक्त वाहन का प्रणयन। यह वाहन एक छोटा सा गीत भी हो सकता है और एक बृहत्परिमाण प्रबन्ध-काव्य भी। इस दृष्टि से गीति काव्य और प्रबन्ध-काव्य में अन्तर

नहीं रहता । यह कहना भ्रान्ति है कि एक विषयि-परक है, दूसरा विषय-परक । प्रबन्ध-काव्य में भी देश-काल, पात्र, वातावरण कवि की अनुभूति के वाहन हैं। वे उस की मानस सन्तति हैं ।

गीत में कवि का 'अहं' उस के व्यावहारिक, दैनन्दिन अहं से भिन्न होता है। गीत का 'अहं' भावित 'अहं' है, जिस को भावना में देखा गया है। यह 'अहं' एक पात्र है-विषय है—इस को 'मैं' की संज्ञा भी दी जा सकती है और कोई दूसरा नाम भी दिया जा सकता है। जिस प्रकार भौतिक जगत् में कल्लोलायित जलों के प्रवाह को देखकर साहित्यकार उन्हें वाणी देता है, उसी प्रकार भाव जगत के वेगों को भी। जिस प्रकार यह आवश्यक नहीं कि कवि नदी के किनारे बैठ कर ही उस पर कविता लिखे, उसी प्रकार यह आवश्यक नहीं कि जो भाव और मनोवेग अभिव्यक्त हो रहे हैं, उन का उस समय अनुभव भी किया जा रहा हो।

यदि कलाकृति साहित्यकार का दर्पण है जिस में उसकी मनोमुद्रा प्रतिफलित हुई है तो वह सहृदय का भी दर्पण है । साहित्यकार हमारे मन को हमारे लिए ही प्रत्यक्ष करता है । गीति-काव्य में भी इसीलिए साहित्यकार के आत्मचरित को देखना निर्भ्रान्त नहीं क्योंकि हम गीत से वही उपलब्ध करते हैं जो हमारे पास है , जिसके सृजन की हम में क्षमता है । प्रेम की कविता में हम कवि को प्रेम कहानी को ही नहीं सुन रहे, अपनी अनुभूतियों को भी पुनरुज्जीवित करते हैं ।

हम यह अवश्य कह सकते हैं कि गीतिकार का

व्यक्तित्व ऐसा है कि वह 'मात्रा स्पर्श' से-विशिष्ट विषयों के सम्पर्क से—तत्काल ही झङ्कृत हो उठता है प्रबन्धकार में अनुभवों के स्यन्दमान नदी नद प्रवेश करते हैं परन्तु वह तटों को उत्प्लावित नहीं करता, मर्यादाओं को भंग नहीं करता । अन्ततोगत्वा यह भेद अनुभूति का, विषयों का, ही भेद है। जगत् में जहां तमोमणि जुगुनु का क्षण-भंगी स्फुरण है वहां चन्द्र और दिवाकर का अधिक धीर और अस्खलित प्रकाश भी है, जहां लहरों की भङ्गीमयी विलासिता है, वहाँ गम्भीर जलों का अनुद्वेल प्रवाह भी है।

कवि कथाकार की अपेक्षा अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए, अपने विशिष्ट विषय के प्रदर्शन के लिए, भाषा पर अधिक निर्भर है । जो कार्य कवि मुख्यत.भाषा की समस्त शक्तियों का प्रयोग करके करता है कथाकार कथा-वृत्त के निबन्धन से करने की चेष्टा करता है। कई प्रसंग, वृत्त ऐसे होते हैं कि हम उनके द्वारा समस्त जीवन के अथवा उसके कुच्छ रूपों के मर्म को पा लेते हैं । कथाकार उनकी इस मर्मभेदिनी शक्ति को कथा-वस्तु के नियोजन के द्वारा उत्थापित करता है। कथा-वस्तु का नियोजन तो प्रवन्ध काव्य में भी होता है परन्तु वहां केन्द्रगत अनुभव अपनी प्रभविष्णुता के लिए घटनाओं के नियोजन पर उसी मात्रा में निर्भर नहीं । इसलिए कविता में ही साहित्य के धर्म पूर्ण रूप से प्रस्फुटित होते हैं क्योंकि यहां अनुभूति और उस की भाषा-गत अभिव्यक्ति में वही समजसता है जो लहरों पर तैरते हुए मराल और और उसकी प्रतिच्छाया में। परन्तु भाषा यहां अनुभूति का अनुकरण ही नहीं सृजन भी करती है। यह 'अनुकरण' 'उदीयमान' अनुभव का है ।

कवि भाषा में अनुभूति को उस की जटिलता, तरलता, अथवा सान्द्रता में वहन करने की शक्ति का संचार करता है। इस उद्देश्य के लिए जैसा कि हमने ऊपर कहा है कवि शब्दों के ध्वनि पक्ष और अर्थ-पक्ष दोनों का प्रयोग करता है। शब्दों के साथ कवि का परिचय औपचारिक नहीं। वह उन के स्वभाव से पूर्णतया परिचित होता है। वह उन के वंशानुक्रम को जानने की चेष्टा करता है। उसे यह पता होता है कि एकान्त में अर्थात् अपने आप में किसी शब्द की प्रकृति कैसी है और दूसरों के साहचर्य में वह कैसा व्यवहार करता है। शब्द उस के लिए प्राण–धर तत्त्व हैं; मित्र को पा कर वे सस्मित हो उठते हैं, अमित्रों की संगति में संकोच, खीझ, अथवा औदासीन्य से आक्रान्त हो जाते हैं। शृङ्गार के सन्दर्भ में ही अपनी आत्मा को अनावृत करने वाले रस-प्राण, मेदुर शब्द वीभत्स और रौद्र रस के वाहक शब्दों की संगति में विषण्ण और कुण्ठा ग्रस्त से प्रतीत होते हैं।

हमने ऊपर कहा है कि काव्य में शब्द सन्दर्भ से अर्थ वत्ता ग्रहण करते हैं।

शब्द निश्चित और निर्देश्य हैं परन्तु अनुभूति तो एक सन्तान है, प्रवाह है। यदि साधारण अनुभव को हम निस्तरंग प्रवाह कहें तो ऐसे विशिष्ट 'काव्य विषय' के अनुभव को जो चेतना को नया उन्मेष देता हैं हम इसी प्रवाह का उत्तरंग रूप कह सकते हैं। जब इस प्रकार के अनुभव अभिव्यक्त होना चाहते हैं तो स्थूल व्यवहार के आदान प्रदान से घिसे पिटे शब्दों से जो विकलित हो चुके हैं काम नहीं चल सकता। कवि जब इन शब्दों का

प्रयोग करता है तो अपनी अनुभूति के रस से इन्हें धो कर इन्हें एक नूतन छवि प्रदान करता है। यह नूतन छवि नये सन्दर्भ द्वारा भी प्राप्त होती है और शब्दों के मूल धातु-पाक अर्थों को अधिगत करने से भी। कवि तत्सम शब्दों का प्रयोग पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए नहीं करता। अनुभव को अविकल रूप में ग्रहण करने के लिए और अविकल रूप में संक्रमित करने के लिए वह ऐसा करता है। वस्तुतः काव्य की भाषा ही अनुभूति को पूर्णरूप में अभिव्यक्त करने की क्षमता रखती है। अनुभूति के अन्तर्गत वस्तुओं के भार, परिमाण आदि गुणों की अनुभूति ही नहीं—जिसे वैज्ञानिक सूत्रों में अभिव्यक्त किया जा सकता है, प्रकृति में विलसित सौन्दर्य की विविधरूपता की अनुभूति भी है जो अपनी अनन्त तरल ध्वनियों के साथ समग्रतया काव्य द्वारा ही व्यंजित हो सकती है। मनुष्य के भी, जैसा कि हमने देखा, है-सौन्दर्य्य प्रवण रूप एवं नैतिक और आध्यात्मिक रूप का समुचित रूप से ग्रहण काव्य की भाषा में ही हो सकता है विज्ञान की और व्यवहार की भाषा में नहीं।

साहित्य में भाषा का अलंकरण' होता है अर्थात् भाषा को समर्थ बनाया जाता है, (अलंकरण-समर्थ बनाना)। अलंकार की सार्थकता इसी में है कि उस के द्वारा सहृदय 'काव्य-विषय'' का भावन अधिक कुशलता से कर सकता है। साधारण व्यक्ति के लिए जगत् के पदार्थ अपनी इन्द्रियग्राह्य सत्ता मे ठोस, असंदिग्ध और निर्देश्य हैं; फूल फूल है, तारे तारे हैं, ग्रीष्म की कड़कती दुपहरी में पत्थर तोड़ता हुआ मज़दूर मज़दूर है। ये रूप और व्यापार पूर्णतया इन्द्रिय-ग्राह्य हैं। इन्द्रियों के पथ से मन में चले जाएँ और वहां किसी प्रकार का उपद्रव करें व्यवहार

निपुण संसारी व्यक्ति को यह स्वीकार नहीं। परन्तु कवि के हृदय में ये रूप और व्यापार नाना प्रकार की पार्श्वस्थ अनुभूतियों, छबियों, आभासों को लेकर स्फुरित होते हैं। कवि की अभिव्यक्ति तभी समर्थ होगी यदि वह नाम और रूप से संपन्न केन्द्रगत विषय के साथ साथ इन मण्डलायित अनाम, अरूप छबियों और आभासों को भी जो उस की अनुभूति का अंग हैं—सहृदय में उत्थापित करदे। अलंकार यही काम करते हैं। रूपक का काम केवल सादृश्य-विधान ही नहीं क्योंकि सहर्वीतनी छबियां अरूप और अनाम हैं अतः उनकी अभिव्यक्ति गोचर नामरूपात्मक जगत् के रूपों और व्यापारों द्वारा ही संभव है।

मनुष्य को बाह्य नाम-रूपात्मक जगत का भी ज्ञान होता है जिस के अन्तर्गत पर्वतों नदियों पशु-पक्षियों के रूप और व्यापार और मानव व्यक्तित्व का शारीरिक पक्ष है और उस को मनोजगत् का भी ज्ञान रहता है। कवि मनोजगत् की सम्यक् अभिव्यक्ति बाह्य जगत् के रूपों और व्यापारों के आधार पर करता है और बाह्य जगत् की चेतना के रूपों और व्यापारों के आधार पर। प्रकृति में कवि राग और द्वेष को जो मूलतः मनोव्यापार हैं अनेकधा विजृंभित देखता है और मनोव्यापारों में प्रकृति के क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले रूपों और व्यापारों—प्रकाश, अन्धकार, शिशिर वसन्त आदि—के धर्मों का उदय और विलय देखता है। सादृश्य मूलक अलंकार वह संयोजक सूत्र है जो सत्ता के विविध धरातलों—भौतिक, मानस, बौद्धिक—को भी मिलाता है। इसके द्वारा जो मानस चित्र उन्मीलित किए जाते हैं वे

'काव्य-विषय' के सहस्थ आभास हैं, उस के जटिल सौन्दर्य्य के उपान्त पर स्थित तरल छबियाँ हैं। काव्यानुभूति में अलंकारों—भाषा को समर्थ (अलम्) बनाने वाले उपकरणों—की महत्ता असंदिग्ध है। जब दो रूप अथवा व्यापार भावना के पौरोहित्य के कारण प्रणय सूत्र से आबद्ध होते हैं तो उनका परिणय विलक्षण मानस—सन्तति को जन्म देता है। रूपक में अप्रस्तुत जाया स्थानीय है जो आत्म-समर्पण के द्वारा प्रस्तुत को समृद्ध करता है। अलंकारों का स्थूल सादृश्य और वैषम्य के आधार पर वर्गीकरण इन की महत्ता को कम करता है। अलंकार भावनात्मक अनुभूति की सहज भाषा हैं। जहाँ भावना नहीं वे खिलवाड़ बन जाते हैं।

स्वप्न सर्ग में प्रसाद मनु के चले जाने के बाद कामायनी की विषण्ण मनोदशा का वर्णन कर रहे हैं। सन्ध्या के घिरते हुए अन्धकार में कामायनी सब प्रकार से निराश और निरीह पड़ी है। सारा प्रदेश श्रद्धा को देख कर अवसन्न है। सन्ध्या का वर्णन करते हुए प्रसाद कहते हैं—

> सन्ध्या अरुण जलज केसर ले अब तक मन थी बहलाती
> मुरझा कर कब गिरा तामरस उसको खोज कहाँ पाती
> क्षितिज भाल का कुंकुम मिटता मलिन कालिमा के कर से
> कोकिल की काकली वृथा ही अब कलियों पर मँडराती
>
> (कामायनी स्वप्न सर्ग, १)

यहाँ हम सन्ध्या को चेतना-संपन्न रूप में देखते हैं—यह अमानव-का मानवीकरण है। मानवीकरण मृषावाद नहीं, कल्पना का मिथ्या जल्पन नहीं। भावना जगत् का इसी रूप

में ग्रहण करती है। साधारण व्यवहार में भी हम कहते हैं, 'वृक्ष खड़ा है,' अथवा 'नदी दौड़ रही है।' मनुष्य की भावना के लिए जैसे परमतत्त्व पुरुषविध बन जाता है वैसे प्राकृत जगत् के पदार्थ भी। जैसा कि हम ने ऊपर देखा है पदार्थ अपने आप में क्या हैं यह तो न विज्ञान बतला सकता है न साधारण व्यावहारिक ज्ञान। कवि तो यह बतलाना चाहता है कि सन्ध्या में उसे किस गुण की प्रतीति हो रही है। सन्ध्या उस के लिए अमनस्का नारी है जो लीला कमल लेकर किसी वेदना को भुलाने की चेष्टा कर रही है। अमनस्का नारी का स्फुरण चेतना में होता है और विषाद की प्रतीति को सान्द्र कर के लय हो जाता है। अगले पद्यों में कवि मानव के "अ-मानवी-करण" के द्वारा श्रद्धा की म्लान, निश्चेष्ट, अवस्था का वर्णन करता है।

कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी न वह मकरन्द रहा
एक चित्र बस रेखाओं का अब उसमें है रंग कहां
वह प्रभात का हीन कला शशि किरण कहाँ चांदनी रही
वह सन्ध्या थी रवि, शशि तारा ये सब कोई नहीं जहां

× × ×

जहां तामरस इन्दीवर या सित शतदल हैं मुरझाए
अपने नालों पर वह सरसी श्रद्धा थी न मधुप आए
वह जलधर जिस में चपला या श्यामलता का नाम नहीं
शिशिर कला की क्षीण स्रोत वह जो हिमतल में जम जाय

(कामयनी, स्वप्न सग २. ३)

यहाँ अचेतन पदार्थों के द्वारा ही कामायनी के शैथिल्य की अभिव्यक्ति की गई है। छन्द की मन्थर गति विषाद की अनुभूति को गहरा कर देती है। रेखाओं के चित्र,

हृत-श्री प्रभात-कालीन चन्द्र, निश्चन्द्रतारका सन्ध्या—इनके द्वारा कामायनी की व्यथा व्यंजित हुई है । यदि रूपकों को पल्लवित किया जाता तो व्यंजकता की हानि होती । काव्य की भाषा इसीलिए व्यंग्य-प्राण होती है क्योंकि वह भावना को सम्बोधित करती है, नेत्रों और कानों को नहीं ।

कवि की अप्रस्तुतयोजना को देखकर हमें उसकी मनश्चेष्टा, भाव-गुण, चेतना के स्तर का पता चल जाता है। उदात्त भावों की अभिव्यक्ति के लिए वह अप्रस्तुतों का चयन हाट बाजार से नहीं कर सकता और साधारण जीवन के निरूपण के लिए वह तारों की विविक्त ज्योति, मेघों के विद्युन्माली रूप, तमः पटल पर जुगुनुओं के नृत्य और काकली से रोमाञ्चित रसाल वन की बात नहीं कर सकता ।

यदि काव्य में कल्पना का उन्मेष ही रूपायित होता है तो यह स्पष्ट है कि काव्य की भाषा में इसी कल्पना को जगाने की शक्ति होनी चाहिये । कवि स्वप्नों का व्यापारी नहीं और न ही उत्तम काव्य की भाषा चेतना को स्वप्नावस्था में लीन कर देती है । काव्य की रचना और आस्वादन में समस्त चेतना—इन्द्रियों से लेकर बुद्धि तक—सक्रिय होती है। काव्य की भाषा में चेतना का यह परिस्पन्द मूर्त्त हो उठता है । काव्य की भाषा विशिष्ट विषय अथवा विषय-जगत् का निर्माण करती है । इस विषय की विशेषता यह है कि हम इस में रमण कर सकते हैं । व्यावहारिक जगत् में हम विषयों को किसी इच्छा की पूर्त्ति का—कुतूहल के शमन का, अर्थ साधन का, तथ्यात्मक ज्ञान की वृद्धि का—साधन बना कर अपने आप को

धन्य समझते हैं। परन्तु काव्य तभी अमोघ सिद्ध होता है जब हम उस के द्वारा प्रस्तुत अथवा उत्थापित विषय में विश्रान्ति प्राप्त करते हैं, जब उसे छोड़ कर हमारा ध्यान विषयान्तर की ओर नहीं जाता, वहीं कीलित सा हो जाता है। ऐसा साहित्य जो किसी विशेष मतवाद के प्रचार के लिए अथवा व्यावहारिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए साग्रह है चेतना में समाधान नहीं ला सकता। युद्ध के लिए लिखे गए अभियान-गीत का अपना प्रयोजन है परन्तु ध्यान को अनन्तरित न रख सकने के कारण—उसे बाह्य कर्म-क्षेत्र की ओर बरबस खींचने के कारण—अः उत्तम काव्य के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। काव्य की भाषा जिस विषय का निर्माण करती है उसका साक्षात्कार न काव्यास्वादन के पहले होता है न उसके बाद। यह विषय भावना द्वारा काव्यास्वादन के समय ही देखा जा सकता है। और इस भावना को जगाने और वृत्तियों को विक्षेप से रोकने का कार्य काव्य की भाषा ही करती है।

जैसा कि हम ने देखा है विज्ञान के विषयों को देखने के लिये विशेष योग्यता अपेक्षित है। इसी प्रकार काव्य के विषय के साक्षात्कार के लिए विशेष भावनात्मक विकास की आवश्यकता है। काव्य की भाषा केवल भावोद्बोधक नहीं। भावोद्बोधन तो काव्य-विषय की प्रतीति का परिणाम मात्र है। यह विषय केवल कविता को पढ़ने मात्र से ही प्रगट नहीं हो जाता। विज्ञान के कई विषयों को विशेष यन्त्रों द्वारा ही देखा जा सकता है—इसीलिए वे अवास्तव नहीं हो जाते। इसी प्रकार काव्य के विषय केवल भावना-दृश्य हैं इसी लिए अवास्तव नहीं हो

जाते। हमने इस तथ्य की ओर ऊपर संकेत किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि ये विषय काव्य की भाषा से सत्ता प्राप्त करते हैं। यदि भाषा शिथिल होगी तो काव्य विषय सहृदय को लीन नहीं कर सकेगा।

यह आग्रह कि काव्य की भाषा व्यावहारिक धरातल पर प्रयुक्त साधारण जनों की भाषा से भिन्न न हो अनुचित है। काव्य की भाषा का उद्देश्य स्थूल अर्थों में अनुकरणात्मक न होकर सृजनात्मक है, वह भावना की वाहक है। जन-भाषा की परम्परा और साहित्य की भाषा की परम्परा एक हो ऐसा कोई विधान नहीं। जन-भाषा अपने आप में कोई स्थिर तत्व नहीं। सहज योग्यता, अनुभव, भावों, विचारों की गम्भीरता, व्युत्पत्ति आदि के कारण एक व्यक्ति की भाषा दूसरे से भिन्न हो जाती है।

वस्तुत: साहित्य सृजन के भी कई धरातल हैं। तुलसी ने तत्सम बहुल विनय पत्रिका की रचना भी की है और रामलला नहछू की भी। परन्तु यह कहना कि रामलला नहछू की भाषा जन-भाषा है सर्वथा ठीक नहीं। जन भाषा स्थूल विषयों की ओर निर्देश करती है उसमें मानस के सूक्ष्म तत्त्वों का निर्वहण करने की शक्ति नहीं होती। साधारण जन का अनुभव सीमित होता है (धूर्त्त को अनुभवी कहना भ्रांति है—ऐसे व्यक्ति की चेतना का नैतिक सामाजिक पक्ष कुण्ठित होता है उसमें तथ्यों को अन्वित करने की शक्ति नहीं होती अथवा वह उन थोड़े से स्थूल तथ्यों को जिन का उस के कायिक--वासनात्मक अहं के साथ सम्बन्ध है और जिन्हें व्यावहारिक सन्दर्भ से ही लिया गया है

ही अन्वित कर सकता है)। इन सीमाओं से मुक्त जन भाषा साहित्य की भाषा बन सकती है। यह आवश्यक नहीं कि काव्यकार की शब्दावलि उसके पाण्डित्य का प्रदर्शन करे। वह केवल उन्हीं शब्दों का प्रयोग भी कर सकता है जो जनता में प्रचलित हैं। ऐसा होते हुए भी भाषा पर काव्यकार का नियन्त्रण उसकी भाषा को व्यवहार की भाषा की शिथिलता से अलग कर देता है। उसकी अन्विति का आधार एक ही परिस्फुट व्यक्तित्व की व्याप्ति है।

कहने का तात्पर्य यह है कि केवल साधारण प्रचलित शब्दों के प्रयोग के कारण ही काव्य-भाषा जन भाषा नहीं बन जाती। काव्यकार का कौशल, उसकी सृजन-शक्ति साधारण शब्दों की असाधारण सौन्दर्य्य-भंगी को अभिव्यक्त करने में है। वह प्रतिदिन के संकुल व्यापार और आदान प्रदान से कुण्ठित-सत्त्व शब्दों की शक्ति का उन्मीलयिता है। यह शक्ति उन्मीलित होकर ही भावना का वहन कर सकती है। अन्यथा मनुष्य की पार्थिव प्रवृत्तियाँ तो भावना की वैरिणी है। यह पार्थिव प्रवृत्तियाँ सृजन में अक्षम है। एक यांत्रिक आवृत्ति के द्वारा ही वे अपने आप को सुरक्षित रख सकती हैं। इस यान्त्रिकता से मुक्त हो कर ही मनुष्य द्रष्टा बनता है, और द्रष्टा बन कर ही वह स्रष्टा बन सकता है। जब वह स्रष्टा बनता है तो वशंवदा भाषा उसकी भावनाओं को ग्रहण करने के लिए नतमस्तक हो जाती है।

वस्तुतः बरवै रामायण जैसी पुस्तकों के प्रभाव का रहस्य केवल इस बात में नहीं कि उनकी भाषा जनभाषा के निकट है। जैसा कि हम ने पीछे देखा है काव्य के विषय

का साक्षात्कार करने के लिए विशिष्ट योग्यता, संस्कार अपेक्षित हैं। यहाँ भी भक्तिप्रवण चित्त ही इस काव्य का पूर्ण आनन्द ले सकता है। साहित्य की भाषा सन्दर्भ से भी प्रभविष्णुता ग्रहण करती है और सहृदय के मानस संस्कारों से भी। वस्तुतः अध्येता के मन में उपन्यास का पढ़ा हुआ भाग संस्कार के रूप में ही रहता है। हाँ, हम यह अवश्य कह सकते हैं कि विनय पत्रिका अपने प्रभाव के लिए भक्त-चित्त के संस्कारों पर उसी मात्रा में निर्भर नहीं जिस मात्रा में 'नहछू' अथवा बरवै रामायण। विनय पत्रिका के काव्य का पूर्ण सौन्दर्य्य तो सहृदय भक्त के लिए ही स्पष्ट होगा परन्तु उस की भाषा की मनोग्राहिता ऐसे व्यक्ति को भी आकृष्ट कर सकती है जिस ने भक्ति के संस्कारों से तो अपने चित्त को समृद्ध नहीं किया परन्तु साहित्यिक भाषा के सौन्दर्य्य को पहचानने की चेष्टा की है। साहित्यिक भाषा इस प्रकार मानव व्यक्तित्व के अनेक स्तरों को सम्बोधित करती है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना चाहिए कि बरवै रामायण की प्रभविष्णुता भी विषय और विषयी के मिलन पर प्रगट होती है। इसलिए यह कहना कि विषयी अपने पूर्वतन संस्कारों के द्वारा उस प्रभविष्णुता का सृजन करता है उतना ही ठीक है जितना यह कहना कि विषयी उस प्रभविष्णुता को काव्य में ही उपलब्ध करता है। कला सृजन भी है और उपलब्धि भी। वह न तो एकान्ततः विषय पर निर्भर है और न विषयी पर।

साहित्यकार शब्दों में नूतन अर्थवत्ता का आधान करता है। काव्य जगत् व्यवहार जगत् की प्रतिकृति नहीं, उस का नूतन "मूल्यों" और अर्थों के आलोक में नव निर्माण है।

ये नूतन "मूल्य" और अर्थ बाह्य प्राकृत जगत् के वासी नहीं, चेतना के ऊर्ध्वलोकों से अवतरित होकर ये काव्य-जगत् को सनाथ करते हैं। यदि वासना व्यावहार-जगत् का निर्माण करती है तो कवि की भावना उस काव्य–जगत् का जिस में सत्य और सुन्दर का अधिवास है। सत्य और सुन्दर का अपलाप तो भदेस से भदेस काव्य भी नहीं कर सकता क्योंकि तथा कथित प्रयोगवादी कवि भी अपनी बात को 'सत्य' मान कर अपनी योग्यता के अनुसार सुन्दर शब्दों में ही कहता है। यह और बात है कि उसे सत्य और सुन्दर के दर्शन कहां होते हैं। विज्ञान की भाषा–जैसा कि हम ने देखा है–विषय का विकलन कर के ही उसे ग्रहण कर सकती है–पुष्प के सौन्दर्य्य को तोलने के लिए विज्ञान के पास कोई तुला नहीं। काव्य की भाषा न केवल उस के सौन्दर्य्य को ग्रहण करती है—उसके द्वारा सहृदय सौन्दर्य्य की अनुभूति को प्राप्त करता है; शब्द आन्तर संवेदना और भावना में परिणत हो जाते हैं।

शैली की सफलता का आधार तो यह है कि लेखक जो कुछ कहना चाहता है—जिस पदार्थ—सूक्ष्म अथवा स्थूल--का प्रदर्शन करना चाहता है, अनुभूति की जिस विधा अथवा भंगिमा को उद्‌बुद्ध करना चाहता है उसमें उसे सफलता प्राप्त हुई है या नहीं। परन्तु किसी साहित्यिक कृति की सफलता का आधार शैली की सफलता ही नहीं। हास्य और अद्‌भुत रस का उद्‌बोधन करने वाली पुस्तकें रामायण और महाभारत के समकक्ष नहीं रखी जा सकती चाहे "हास्य रस का अवतार" साहित्यकार अपने उद्देश्य में कितना ही सफल क्यों न हुआ हो।

अन्ततोगत्वा साहित्य की महत्ता का आधार जीवन दर्शन है। दर्शन से हमारा अभिप्राय वेदान्त सांख्य आदि प्राचीन दर्शन नहीं। हम सब विविध प्रकार के अनुभव प्राप्त करते हैं-सोचते हैं और अपने विचार और अनुभव के आधार पर जीवन के पथ पर चलने की चेष्टा करते हैं। जाने अनजाने हमारे लिए विविध पदार्थ और जीवन के रूप और व्यापार विविध प्रकार के "मूल्यों" अथवा "महत्त्व" के वाहक बन जाते हैं। इस दृष्टि से हम सब दार्शनिक हैं यह बात और है कि हम "अपरिपक्व" दार्शनिक हैं, अर्धपक्व अथवा अपक्व। जो "परिपक्व" जीवन दर्शन के विद्वेषी हैं—जिन्हें पुराणपंथी सिद्धान्तों से चिढ़ है वे अपना जीवन दर्शन अखबारों बाजारों और वातावरण में उड़ते हुए विचारों से ग्रहण करते हैं। महान् साहित्यकार वही है जिस की सृजनात्मक प्रतिभा हमें अपना शाब्दिक प्रतिरूप दे सकती है।

आधुनिक कविता और गद्य दोनों की प्रवृत्ति साधारण जन-भाषा को अपनाने की ओर है। यह साहित्य के क्षेत्र में प्रजातन्त्रात्मक धारणाओं का प्रतिफलन है। हमने देखा है कि साहित्यिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए जन-भाषा —साधारण व्यवहार में प्रयुक्त भाषा—का संस्कार अपेक्षित हैं। संस्कार का यह अर्थ नहीं कि प्रचलित शब्दों के स्थान पर तत्सम शब्दों का प्रयोग हो। शब्द चाहे वही हों प्रत्येक कलाकार को अनिवार्यतः अपने माध्यम के ऊपर विजय प्राप्त करनी होती है, अतः उसे व्यावहारिक जीवन की अपेक्षा अधिक सजग होना पड़ता है। इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि सरल भाषा का नारा लगाने वालों की मानस प्रक्रिया सहज और ऋजु नहीं। आधुनिक

युग संशय, अनास्था, का युग है, हमारे मन दोलारूढ हैं, विकल्प-विषम हैं। यह सामाजिक विघटन और बौद्धिक ऊहापोह का युग है। हमारे कवि और गद्यकार इस युग-चेतना को वाणी देना चाहते हैं। वे मन को उसकी सारी अस्तव्यस्तता, विघटन, उत्सूत्रता के साथ प्रतिफलित करना चाहते हैं। इसीलिए नूतन, विलक्षण प्रयोग देखने में आ रहे हैं। साधारण शब्दों का प्रयोग इस ढंग से किया जाता है कि अर्थ तक पहुंचने के लिए मस्तिष्क को काफी व्यायाम करना पड़ता है। प्रयास यह होता है कि अवचेतन के झुटपुटे का, दृष्टि-मान्द्य का चित्रण, अनुकरण किया जाय। इन लेखकों के लिए साहित्य का उद्देश्य है 'अनुकरण'। परन्तु किस का अनुकरण ?' इस प्रश्न के उत्तर में वे यह कहते हुए झिझकेंगे 'साधारण पुरुष का क्लिष्ट और अनुद्बुद्ध मानस यथार्थ के जितने अंश का ग्रहण कर सकता है उसका अनुकरण।

चाहे साहित्यकार अपने सम्बन्ध में कुछ कहे या न कहे उसकी भाषा से ही हमें उस के मानस विकास और विशिष्ट समस्याओं के सम्बन्ध में उसके दृष्टिकोण का पता चल जाता है। कविता में विवक्षित पदार्थ का स्वरूप शब्दों के वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ व्यंग्यार्थ, लय, तुक, छन्द की त्वरित, मन्थर गति आदि कई तत्त्वों के परस्पर सम्बन्ध, आदान प्रदान से निश्चित होता है। (वस्तुतः जैसे रूपक, उपमा आदि अलंकार भाषा में एक विशेष प्रकार की क्षमता, अर्थ-वृद्धि ला देते हैं, उसी प्रकार छन्द का प्रयोग भी एक विशिष्ट प्रकार की योग्यता का प्रदायक है जो केवल अछन्दोबद्ध

भाषा में प्राप्त नहीं हो सकती) केवल बौद्धिक अर्थ के दे देने से अथवा आलंबन का विवरण देने से कविता कृतकृत्य नहीं हो जाती। उस बौद्धिक अर्थ अथवा आलंबन के द्वारा प्रेरित भाव भी कविता की भाषा से ध्वनित हो जाना चाहिए। भाव वाच्य तो होते नहीं परन्तु जहाँ वे अनुभाव आदि के द्वारा ध्वनित होते हैं वहाँ उनकी इयत्ता मात्रा, वेग आदि की व्यंजना शब्दों के चयन और विन्यास से हो सकती है। इस दृष्टि से नैतिक तथ्यों को न देता हुआ भी काव्य नैतिक चेतना का वाहन बन जाता है।

नैतिक चेतना के वाहन होने का अर्थ है कि साहित्यकार भाषा के द्वारा आत्मसाक्षात्कार करता है। साहित्यिक अभिव्यक्ति से पहले वह उस भाव के पूर्ण स्वरूप को नहीं समझता जिस के आलोक में वह किसी, व्यापार और परिस्थिति को देख रहा है। साधारण शब्दों में गोपियों के सम्बन्ध में सूरदास यही कह सकते थे कि कृष्ण के मथुरा-गमन से उन्हें अपार दुःख हुआ। परन्तु गोपियों के आर्त्त प्राणों की मर्मच्छेदी पुकार का श्रवण, वियोग की निस्तल व्यथा का अवगाहन, सूरदास भी भ्रमर-गीत देकर ही कर सके। 'गोपियों को बहुत दुःख हुआ' यह वाक्य भी गोपियों की व्यथा को प्रगट करता है और भ्रमरगीत भी, परन्तु यह तो स्पष्ट है कि सूरदास का आशय अधिक समर्थ रूप में कहाँ अभिव्यक्त हुआ है।

साहित्य का प्रयोजन

साहित्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में मम्मट की निम्न प्रसिद्ध उक्ति पर विचार किया जा सकता है :

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे ॥

काव्य के विविध उद्देश्य यहां परिगणित किए गए हैं। क्या ये सब एक ही धरातल पर रखे जा सकते हैं अथवा इनमें कोई तारतम्य निश्चित किया जा सकता है ? क्या हम कह सकते हैं इन में किसे मुख्य और किसे गौण माना जाय ?

जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिए काव्य ही समर्थ है, वही इस का मुख्य प्रयोजन भी है। उपरिलिखित उद्देश्यों में यश, व्यवहार-पटुता, अमङ्गल-क्षति, सरस उपदेश काव्य के अतिरिक्त दूसरे साधनों से भी प्राप्त हो सकते हैं। अतः केवल काव्य ही उनके प्रदान की क्षमता नहीं रखता। काव्य का मुख्य उद्देश्य तो वह भावनात्मक अनुभूति है जो शब्दों के द्वारा प्राप्त होती है। इतर उद्देश्य गौण हैं।

इस दृष्टि से विचार करने पर यह निष्कर्ष अनिवार्य हो जाता है कि धार्मिक काव्य का मुख्य उद्देश्य धर्म का प्रचार नहीं। साधारण सिद्धान्त रूप में वैष्णव भक्ति का ज्ञान पद्य में भी दिया जा सकता है। छन्दोबद्ध कान्त पदावलि के द्वारा उस ज्ञान की भावनात्मक अनुभूति का प्रदान किया जाता है। यह अनुभव विश्लेषणात्मक बुद्धि द्वारा अधिकृत नहीं किया जाता परन्तु उस चेतना के कौशेय क्रोड़ में रमण करता है जिस के प्रफुल्ल नेत्रों में प्रज्ञा का धवल प्रसाद और अधरों पर भाव की अरुण स्मित-लेखाएँ हैं। वस्तुतः 'सद्यः परनिर्वृति' ही काव्य का मुख्य उद्देश्य है। यह परनिर्वृति किसी दूसरे साध्य तक पहुंचने का साधन नहीं। संसार में जो वस्तु सुख देती है उसकी प्रयोजनीयता के सम्बन्ध में हम इतर प्रश्न नहीं उठाते। हम कह सकते है कि जीवन का उद्देश्य भी यही है। मोक्ष-शास्त्र में परनिर्वृति मोक्ष का आनन्द ही है। परन्तु इतना कह देने से ही काव्य के प्रयोजन का प्रश्न हल नहीं हो जाता। इस आनन्द का स्वरूप स्पष्ट करना होगा। इसे एक ओर इन्द्रिय-जन्य सुख से और दूसरी ओर मोक्ष के आनन्द से विविक्त करना होगा।

'भूतनाथ डाकू' के पढ़ने से मिलने वाला सुख उसी प्रकार का नहीं हो सकता जिस प्रकार का रामायण आदि उदात्त काव्यों के पढ़ने से उपलब्ध होता है।

मनोरंजक साहित्य का अपना मूल्य है। साहित्य के उदात्त आदर्शों को सामने रखते हुए भी हम साधारण मनुष्य की साधारणता को भुला नहीं सकते। और इस साधारणता को दयनीय मानने वाला व्यक्ति एक प्रकार के आध्यात्मिक अहंमान का शिकार हो जाता है। मनुष्य अपनी साधारणता

में भी जीवन के प्रशस्त रूपों के प्रति जागरूक रह सकता है ।' साहित्यिक दृष्टि से आदर्श न होते हुए भी कई उपन्यास मनुष्य की सात्त्विक और उदात्त प्रवृत्तियों को ही अपना उपज़ीव्य बनाते हैं । वस्तुतः जगत् के अन्य पदार्थों के समान साहित्य का भी त्रिगुणात्मक विभाजन हो सकता है । सात्त्विक, राजस और तामस—तीनों प्रकार के ग्रन्थ मिलते हैं । मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार ही रुचिकर लगने वाली पुस्तकों को चुन लेता है । मनुष्य में प्रकृति के ये तीनों गुण दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु हम मनुष्यता का उज्ज्वल, आदर्श रूप तामस, अथवा तामस—राजस स्वभाव में नहीं देखते और न ही मनुष्यता की परिभाषा इस आधार पर करते हैं उत्तम साहित्य में साहित्यकार और सहृदय दोनों की समग्र चेतना सक्रिय होती है । इसी प्रकार साहित्य की निम्नतर अभिव्यक्तियों को उपेक्ष्य न मानते हुए भी हमें उसी साहित्य के प्रयोजन पर विचार करना चाहिये जो मनुष्य को उसके समग्र स्वरूप में उपस्थित करने की चेष्टा करता है । कई बार यह भी होता है कि कोई साहित्य-कार जिसे मनुष्य का समग्र स्वरूप मानता है वह वस्तुतः उसका खण्डित रूप होता है । परन्तु फिर भी जहां भी हम मानव और मानत जगत् को उसके वास्तव, अखण्ड रूप में देखने को चेष्टा करते हैं और उसके दर्शन में आनन्द लेते हैं वहां हमें साहित्य में प्रतिफलित होने वाली चेतना के बीज उपलब्ध होते हैं ।

जिस प्रकार काव्य का हेतु कवि की अनुभूति है उसी प्रकार काव्य का मुख्य प्रयोजन सहृदय की अनुभूति है ।

प्रश्न यह है कि सहृदय को अनुभूति अथवा

काव्यानुभूति क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर ठीक प्रकार से तभी दिया जा सकता है यदि हम जान लें कि यह क्या नहीं है। मानव अनुभूति के कई क्षेत्र हैं। हमारा दैनन्दिन व्यावहारिक जगत् है जिस की अनुभूति विशिष्ट प्रकार की है। सामाजिक जगत् है जिस में धर्म के विधि-निषेध का प्रयोजन होता है। दार्शनिक की अपनी अनुभूति है। मन अपने आप में एक विराट् लोक है। इसी प्रकार बैंकर, विद्वान्, शासक, सेवक, प्रत्यक्ष रूप से एक ही भौतिक जगत् के निवासी होते हुए भी समान अथवा सजातीय अनुभूतियों को प्राप्त नहीं करते। अनुभूतियों के इस विविध प्रपंच में काव्यानुभूति का क्या स्थान है ? क्या वह मन:स्वप्नों का विलासमात्र है या किसी विशेष उपादेयता अथवा अर्थवत्ता से सम्पन्न है—यह प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

जब हम अनुभव की बात करते हैं तो हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि हम 'किस के' अनुभव की बात कर रहे हैं। साधारण व्यक्ति अपने व्यावहारिक अनुभव में अधिक व्यवस्था नहीं ला सकता। जो व्यवस्था उस में दिखाई देती है वह अधिक देर तक नहीं रहती और उस व्यवस्था की विधायक या तो कोई इच्छा होती है अथवा कोई मानस वेग। इच्छा की तीव्रता अथवा मानस वेग के हट जाने पर साधारण व्यक्ति का मन संकल्प-विकल्प, संवेदनाओं, धारणाओं आदि का संकुल प्रवाह बन जाता है। साधारण व्यक्ति के अनुभव का निरीक्षण करने पर पता चलता है कि हवा में उड़ते हुए पत्तों के समान उस की अनुभूतियाँ दिग्भ्रान्त सी होती हैं। मैं एक पुस्तक पढ़ रहा हूं—इतने में कोई पुरानी स्मृति चित्त में उठती है। उसकी ओर ध्यान देने लगता हूं तो

उस की परिधि पर पड़ी कई अन्य स्मृतियाँ जाग उठती हैं थोड़ी देर में फिर ध्यान वर्तमान की ओर लौट आता है, तदनन्तर किसी भावी घटना से सम्बद्ध आशङ्का अथवा उल्लास का उदय होता है। इस प्रकार का अनुभव वर्तमान और अतीत, अतीत और भविष्य, भविष्य और वर्तमान में दोलायित रहता है। शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध और अनाहूत विचार चित्त को सर्वसाधारण जन पथ समझ कर पदाक्रान्त करते हैं। काव्य का अनुभव इस प्रकार के अस्त-व्यस्त अनुभव-खण्डों से निस्सन्देह भिन्न होता है। उस में एक केन्द्रगत अनुभूति होती है जिस की रश्मियाँ समस्त कविता और तज्जन्य अनुभव को उद्‌भासित करती हैं।

साधारण जीवन की अनुभूति और काव्यगत अनुभूति का उपर्युक्त अन्तर सतही नहीं है। वस्तुतः यह अन्तर बहुत गहरा है। यह ठीक है कि साहित्य में कोई तत्त्व ऐसा नहीं जो व्यावहारिक जीवन में उपलब्ध न हो। कल्पना की परियाँ और स्वर्लोक भी इन्द्रिय-गोचर रूपों और व्यापारों के आदर्श रूप हैं। परन्तु इस से कविता व्यावहारिक जीवन के व्यापारों में परिगणित नहीं हो सकती। व्यावहारिक जीवन के व्यापार साधनों के रूप में ही हमारे सामने आते हैं। ऐसे प्रत्येक व्यापार के लिए यह प्रश्न संगत है: यह क्यों किया जा रहा है? इस प्रश्न का उत्तर भी हमें मिलता है : मैं यह व्यापार इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कर रहा हूं। व्यावहारिक जीवन के कार्य्य-कलाप अपने से भिन्न लक्ष्य का सन्धान करते हैं। उन में अहं अपनी स्थिति में अथवा अपने विद्यमान परिवेश

में परिवर्तन चाहता है। वहाँ हम काल के चलक्षणों पर चरण रखते हुए किसी गन्तव्य की ओर अग्रसर होते हैं। व्यावहारिक दशा में अहं की और काल की ठोस स्थिति है। अहं आत्मा की उस स्थिति की संज्ञा है जिस में वह अपने ऊपर नाम रूप आरोपित कर के साध्यों की और उन तक पहुंचाने वाले साधनों की कल्पना करती है। अहं का प्रयत्न हानोपादान-परक होता है—वह इष्ट से संयोग और अनिष्ट से वियोग चाहता है। व्यवहार–दशा इसीलिए अनुपशम, विकलता, असन्तोष की दशा है—यह अतीत और अनागत अथवा भविष्य के बीच में दोलायित है। अहं को शुद्ध वर्तमान स्थिति का अभिज्ञान नहीं हो सकता—जिसे यह अपना 'वर्तमान' कहता है वह अतीत की अर्ध-विस्मृत छबियों और भविष्य की कल्पनाओं का संकलन होता है। अहं की कार्य्योन्मुख अवस्था का स्वरूप राग–द्वेषमय है; वह कुच्छ पदार्थों और स्थितियों की ओर प्रवृत्त होता है, कुच्छ से निवृत्त। कविता की अनुभूति में इस राग-द्वेष-मय अहं का निराकरण होता है—वह शुद्ध भावना की स्थिति है। अहं अपने विशिष्टता-विधायक तत्त्वों—नाम और रूप—से मुक्त हो जाता है। यह दशा शुद्ध आत्मवेत्ता की आत्मानुभूति से किस प्रकार भिन्न है इस पर हम अभी विचार करेंगे।

काव्यानुभूति एक शुद्ध भावनात्मक व्यापार है; इस का उद्देश्य न तो जिज्ञासु के समान ज्ञान का उपार्जन है और न ही व्यवहार–विद् की भाँति परिस्थिति का परिवर्तन। इस में ज्ञान और कर्म परक प्रवृत्तियाँ घुलमिल सी जाती हैं। ज्ञान और कर्म दोनों भावना के विषय बन

कलरव अथवा उसे रंजित करने वाले आकाश के रंगों का वैभव हमें मुग्ध कर लेते हैं और हम उस दृश्य की कमनीयता में अपनी अहंकृति की मलिनता और वक्रता को विसर्जित कर देते हैं उस समय हमारा दृष्टिकोण भावनात्मक होता है । यह अनुभूति वैज्ञानिक अथवा विश्लेषण-परक बुद्धि की पहुंच के बाहिर है । परन्तु यह निश्चेष्ट नहीं । इस में नये तथ्यों का ज्ञान तो नहीं होता चेतना के मुद्रित द्वार अवश्य खुल जाते हैं । यह भावनात्मक अनुभूति किसी भी विषय के द्वारा उद्बुद्ध की जा सकती है । जीवन की त्वरा और मानस वेगों के अन्ध प्रवाह से कई बार निवृत्त हो कर हम उन्हीं के स्वरूप का भावन करने लगते हैं । यह भावन दार्शनिक मीमांसा नहीं । यद्यपि यह चेतना अथवा भावनात्मक स्थिति कई द्वारों से उपलब्ध हो सकती है परन्तु इसे काव्यात्मक अनुभूति तभी कहा जायगा जब इस की प्राप्ति कविता के माध्यम से—उसके अनुशीलन अथवा भावन—से हो ।

यह भावनात्मक अनुभूति ही काव्य का प्राण है । यह ही साहित्य का चरम साध्य है । यह ठीक है साहित्य के कई प्रकार हैं परन्तु सब प्रकार के साहित्य को यदि वह अपने उद्देश्य में सफल है--इस अनुभूति को देने में समर्थ होना चाहिये । वस्तुतः दार्शनिक कविता का लक्ष्य किसी दार्शनिक समस्या का समाधान नहीं और न ही धार्मिक कविता का उद्देश्य किसी धर्म का प्रचार है । सिद्धान्तों को और समाधान परक तर्क श्रृङ्खलाओं को छन्दोबद्ध किया जा सकता है परन्तु उन्हें कविता नहीं कहा जा सकता । दार्शनिक कविता का साध्य कोई विचारात्मक प्रतिपत्ति नहीं । यदि तथा-कथित धार्मिक कविता का उद्देश्य सात्त्विक

जीवन-चर्या और आस्तिक्य का प्रचार हो तो भागवत की उदात्त-काव्य-भूमि और किसी मन्दिर के तुक्कड़ पुजारी के कृतित्व को एक ही धरातल पर रखना चाहिये। हम किसी भी सिद्धान्त को ले कर बौद्धिक ऊहापोह कर सकते हैं, उस का ऊर्ध्वबाहु हो कर प्रचार कर सकते हैं परन्तु यदि उसे हम ने काव्यात्मक अभिव्यक्ति देनी है तो उस सिद्धान्त को हमारे ओष्ठ, जिह्वा और बुद्धि से भी गहरे हमारे चेतना के धरातल को व्याप्त करना होगा। यही धरातल भावना का धरातल है। जो वस्तु, स्थिति अथवा सिद्धान्त इस धरातल पर पहुंच जाता है हम उस को दृष्टि पथ से हटाना नहीं चाहते, उस का भावन करते हुए अघाते नहीं। वास्तव कविता कवि के इसी भावनात्मक धरातल से उठती है और सहृदय के भावनात्मक धरातल का संस्पर्श करना चाहती है।

भागवत निःसन्देह हमारी धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना को सम्बोधित करता है; उस में कई दार्शनिक समस्याओं को उठाया गया है और उन का उत्तर दिया गया है। उस पर हम एक दार्शनिक-आध्यात्मिक ग्रन्थ के रूप में विचार कर सकते हैं। उसके उत्तरों की बौद्धिक दृष्टिसे मीमांसा कर सकते हैं। परन्तु ये सब बातें उस अनुभूति से भिन्न हैं जो एक सहृदय को भागवत का अध्ययन करते हुए प्राप्त होती है। भागवत के अध्ययन से कई बौद्धिक संशयों की निवृत्ति हो सकती है, अध्यात्म-प्रवण चित्त को साधना पथ पर चलने की प्रेरणा मिल सकती है परन्तु उस की काव्यात्मक अनुभूति इन दोनों परिणामों से भिन्न होगी। इन में से एक परिणाम ज्ञान से सम्बद्ध है दूसरा कर्म से परन्तु

सहृदय की अनुभूति में भागवत का उदात्त ज्ञान और साधना की विरज शक्ति दोनों भावना के विषय है। इस अनुभूति के बाद एक मनुष्य साधना-पथ पर चलने लग जाता है परन्तु दूसरा फिर अहंपरक कार्य्यकलाप में खो जाता है परन्तु इन भिन्न प्रकार की उत्तर चेष्टाओं से उस अनुभूति का मूल्य कम नहीं होता। आधुनिक शब्दावलि में यह अनुभूति अपने में एक, 'मूल्य, (Value) अथवा साध्य है और इस का आस्वादन करने की योग्यता अपने आप में स्पृहणीय है। वस्तुतः साधना-पथ पर आरूढ़ होने की प्रेरणा अथवा संशयों के दूर होने से प्राप्त होने वाला ज्ञान अनुभूति के 'तात्कालिक' मूल्य को घटाते बढ़ाते नहीं। भागवत का पूर्ण रूप से आस्वादन करने के लिए साधनात्मक और दार्शनिक योग्यता अपेक्षित है जिस के बिना वह हमारे लिए पूर्ण रूप से रसनीय नहीं बन सकता परन्तु दर्शन के बौद्धिक, साधना के कर्म-परक और भागवत की काव्यात्मक अनुभूति के भावनात्मक "मूल्यों" में स्पष्ट अन्तर है।

कविता को अनुभूति व्यावहारिक जगत् की कर्मोन्मुख अनुभूति से भिन्न होने पर भी निष्क्रिय नहीं होती। यह अनुभूति भी एक व्यापार है। इस व्यापार में मनुष्य की चेतना सावधान और अनलस होती है। नदी के सौन्दर्य का दर्शक जिसका हम ने ऊपर उल्लेख किया है यदि अपने ध्यान को किसी दूसरी दिशा में मोड़ने को बाधित हो जाय तो उसे अपनी निरुपद्रव, एकतान स्थिति में होने वाले परिवर्तन का तीव्र ज्ञान होगा। सौन्दर्य्यानुभूति (और काव्यानुभूति सौन्दर्य्यानुभूति का वह प्रकार है जिसका साक्षा-

त्कार छन्दोबद्ध अथवा लयानुगत शब्दों द्वारा होता है) में हमारी वृतियाँ विषय में ही समाहित हो जाती हैं। परन्तु यह विषय जिज्ञास्य नहीं; जिज्ञास्य अथवा बौद्धिक प्रवृत्ति का विषय सौन्दर्य्यानुभूति के विषय से भिन्न होता है; इंजीनियर की नदी वही नदी नहीं जिसे कवि देखता है। एक ही मनुष्य एक ही विषय का आकलन भिन्न भिन्न समय पर भिन्न भिन्न प्रकार से कर सकता है। सौन्दर्य्यानुभूति के समय हम विषय विशेष में ही मन का निवेश करते हैं। मन यह नहीं चाहता कि इस विषय का अनुसन्धान करूँ, देखूं कि यह किस कार्य्य-कारण शृङ्खला की कड़ी है, न ही वह इस का प्रयोग उपकरण के रूप में किसी सीमित उद्देश्य की सिद्धि के लिये करना चाहता है। वह तो चाहता है उस में अनुप्रवेश—उस में रमण करना। इस अनुभूति में हम मूर्त्त अथवा अमूर्त्त विषय विशेष को चेतना के सामने रखने में ही आनन्द लेते हैं। अमूर्त्त विषयों—साहित्य, अथवा कला का जगत्, कोई उदात्त दर्शन, मानव चरित्र की जटिलता —का भावन करने से—चेतना के समक्ष रखने से—विशिष्ट आनन्द की प्राप्ति होती है और यह अनुभूति काव्य का कारण भी बनती है और कार्य्य भी। इसी अनुभूति को भारतीय परम्परा आनन्द का नाम देती है। इसे भावनात्मक अनुभूति कहें, आनन्द कहें अथवा चेतना का विकास कहें हमें इस की विशिष्टता का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। हमें देखना चाहिए कि यह साधारण भौतिक सुख से कहां तक भिन्न है, दूसरे, मोक्ष के आनन्द और काव्यानन्द में क्या अन्तर है।

जीवन में संस्पर्शज सुख तो नाना प्रकार के हैं, स्वादु

भोजन से प्राप्त होने वाला सुख, शत्रुधर्षण का सुख, मनोविनोद से प्राप्त होने वाला सुख । परन्तु ये सब अनुभव साहित्य से प्राप्य सुख के समकक्ष नहीं । ऐन्द्रिय सुखों को हम भोग कह सकते हैं । इन में हमारी चेतना के ऊर्ध्वस्तर सचेष्ट नहीं हो पाते । भोग की अवस्था परतन्त्रता की अवस्था है । साधारण रोमहर्षण चलचित्र से प्राप्त होने वाला सुख हमारे लिए जीवन की नीरसता को क्षणभर के लिए रंजित कर देने का साधन तो हो सकता है परन्तु यदि साहित्य का रसास्वादन इसी प्रकार का है तो साहित्य को मानव जीवन का उन्नायक कहना भ्रम है ।

साहित्य यदि आनन्द देता है तो वह साधारण कोटि का आनन्द नहीं हो सकता । केवल ऐन्द्रिय आनन्द ही अभिलषणीय अवस्था नहीं । इस से हमारे आंशिक व्यक्तित्व की ही परितृप्ति होती है । यदि रिचर्डस् के अनुसार साहित्य का ध्येय यह माना जाय कि इस से स्नायविक संस्थान के स्वास्थ्य की वृद्धि होती है तो हमें यह न भूलना चाहिए कि स्वास्थ्य का यह आदर्श तो हमें पहलवानों और कर्मठ व्यक्तियों में अधिक अनुकरणीय रूप में चरितार्थ मिलेगा । साहित्य से प्राप्त होने वाले आनन्द का लक्षण यह है कि यह विशिष्ट प्रमाता को प्राप्त होता है—जिस ने अपने आपको विशेष योग्यता से सज्जित किया है । कलाओं से उत्पन्न होने वाले आनन्द में सहृदय सक्रिय होता है—उस की भावना-शक्ति जागरूक होती है । साहित्य जिस प्रकार भावन व्यापार से जन्म लेता है, उसी तरह साहित्यिक

सौन्दर्य्य की अनुभूति भी भावनात्मक होती है । यह भावना-ज़न्य आनन्द है । यह भी उस विषय विशेष के दर्शन से उत्पन्न होता है जिस का कवि ने सृजन किया है। यह विषय मांसल नेत्रों से नहीं देखा जा सकता । तुलसीदास का चित्रकूट वह स्थावर शिलोच्चय मात्र नहीं जिसे कोई भी नेत्रवान् अभक्त जाकर देख सकता है । तुलसीदास के हृदय में तरंगायित भाव भी उसके चित्रकूट के उसी प्रकार अंग है जिस प्रकार वे निर्भर प्रवाह, लताकुंज और वनचर जीव जिन का वे वर्णन करते हैं । अर्थात् जो तुलसी के चित्रकूट को देखता है वह भौतिक व्यापारों और अपनी चेतना के उन्मेष को इस प्रकार आबद्ध, संपृक्त देखता है कि हम कह सकते है कि वे एक ही नूतन विषय—कवि के चित्रकूट—के गुण हैं ।

यह आनन्द समस्त चेतना को सक्रिय कर देता है। ऐन्द्रिय सुख में और असंयत मन के विकल्पों से उत्पन्न होने वाले सुख में हम परवश होते हैं। ऐन्द्रिय सुख और विकल्प-विलासी मन का सुख आनन्द से भिन्न अवस्थाएँ हैं। जिन के लिए सुख की परिभाषा ऐन्द्रिय सुख अथवा स्नायविक स्वास्थ्य तक ही सीमित है उनका अनुभव बहुत सङ्कुचित है। रसोई में मनुष्य को जो रस मिलता है वह उसके आंशिक व्यक्तित्व की ही तृप्ति कर सकता है। मनोरंजन-शाला और क्रीडा-स्थली में भी उसके पूर्ण व्यक्तित्व का समाधान नहीं हो सकता । पूर्ण व्यक्तित्व का समाधान भावना के द्वारा ही होता है—वह भावना जो पांचों कोषों को संग्रथित और समंजस कर देती है ।

पारमार्थिक दृष्टि से तो काव्यानन्द ब्रह्मानन्द से

भिन्न नहीं उसी प्रकार जैसे जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं। परन्तु जिस धरातल पर हम विचार कर रहे हैं वहां इनका अन्तर स्पष्ट कर देना चाहिए। काव्यानुभूति में हम ने देखा है वह पार्थिव अहं जिस की वासनाएं हमारे व्यक्तिगत रागद्वेष-मय संसार को जन्म देती हैं विलुप्त हो जाता है। आध्यात्मिक चेतना में भी इस 'अहं' का विलोप होने पर ही हम आत्मानुभूति को प्राप्त कर सकते हैं। यहां तक दोनों अनुभूतियों में समानता है। परन्तु दोनों के स्वरूप को ठीक प्रकार से समझने के लिए इन के वैषम्य का भी ज्ञान होना चाहिये। अपने साधारण अनुभव में हमें हर्ष, विषाद का ज्ञान तो होता है रस का नहीं। हर्ष विषाद की उत्पत्ति का कारण हमारा अहंपरक दृष्टिकोण है। इस अवस्था में हम वस्तुओं के तात्त्विक स्वरूप को नहीं देख सकते; उन्हें अनुकूल और प्रतिकूल वेदन की दृष्टि से देखते हैं। "अनुकूलवेदनीयं सुखं प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्।" ये रागद्वेष वस्तुओं के वास्तव रूप को आच्छन्न कर लेते हैं।

राग द्वेष काम के ही दो रूप हैं। राग अवस्था में हम किसी पदार्थ की ओर प्रवृत्त होते हैं, द्वेषावस्था में उस से परावृत्त। इन अवस्थाओं में हमारा उद्देश्य पदार्थ में ही विश्राम करना नहीं परन्तु उस के माध्यम से अपनी कामनाओं की तुष्टि ही है। कला से प्राप्त होने वाली अनुभूति में कामना का यह कण्डूयन शान्त हो जाता है। हर्ष और विषाद उस रस-दशा से भिन्न अवस्थाएं हैं जिस में इस अनुभूति का उन्मेष होता है। हर्ष में चित्त स्फीत हो उठता है विषाद में चेतना का सङ्कोच होता है। दोनों

अवस्थाएं चित्त में विषमता उत्पन्न कर देती हैं। कामना के शान्त होने पर चित्त में यह विषमता नहीं रहती। परन्तु काव्यानुभूति से प्राप्त होने वाली, कामना की विषमता से मुक्त, यह रसमयी स्थिति अधिक देर तक नहीं रहती। आध्यात्मिक चेतना आत्मा के सहज रूप का अनावरण है। यह आत्मा से भिन्न किसी कारण पर आश्रित नहीं। ब्रह्म-संस्पर्श में हम त्रिगुणातीत अवस्था को प्राप्त करते हैं। सत्त्व, रजस्, और तमस् से अतीत होने का अर्थ है मन से अतीत होना। ब्रह्मसंस्पर्श अमनीभाव को अवस्था है; इस में अविद्या और तज्जन्य काम दोनों का परिहार हो जाता है। आध्यात्मिक अनुभूति में कामनाएं निर्मूल हो जाती हैं, काव्यानुभूति में वे थोड़ी देर के लिए सो जाती है, काव्यानुभूति में राजस भाव के शमन से आत्मा का आनन्द चित्त में संक्रान्त हो जाता है; यह आनन्द चित्त का आगन्तुक धर्म ही कहा जायगा। यह चित्त का अपना धर्म नहीं। चित्त सुस्थ होने के कारण उसी प्रकार इस आनन्द को ग्रहण कर सकता है जिस प्रकार सरोवर अपनी निस्तरंग अवस्था में ही बिम्बग्रहण में समर्थ होता है। आत्मज्ञान में जिस आनन्द की अनुभूति होती है वह आत्मा का सहज धर्म है। वस्तुतः काव्यानुभूति में भी विषय की स्थिति होने के कारण उसे सुख की संज्ञा देना समीचीन होगा यद्यपि यह सुख स्थल, लौकिक विषयों से उत्पन्न होने वाले सुख से इतना दूर और आत्म दर्शन से प्रसूत आनन्द के इतना निकट है कि इसे 'ब्रह्मानन्द—सहोदर' कहने में कुछ अनौचित्य नहीं।

काव्यानुभूति की प्राप्ति के लिए कुछ विशिष्ट संस्कारों का होना तो आवश्यक है। इन के अविद्यमान होने पर उच्च से उच्च कोटि की कविता भी कुच्छ शब्दों का निरर्थक निबन्धन प्रतीत हो सकती है जिन में शायद कर्णग्राह्य लय का तो पता चल जाय परन्तु मनोग्राह्य भावना की अनुभूति नहीं हो सकती। आध्यात्मिक अनुभूति के लिए तो चरित्र का परिवर्तन आवश्यक है। बौद्धिक और नैतिक दृष्टि से व्यक्तित्व का पुनर्निर्माण किए बिना यह अनुभूति प्राप्त नहीं हो सकती। कला जिस अनुभूति को थोड़ी देर के लिए देती है आध्यात्मिक साधना का उद्देश्य उसे चिरन्तन बनाना है। अहं के विलय से चित्त में प्रसाद का संचार होता है परन्तु कला और कविता में विलय होने वाले अहं का थोड़ी देर के बाद, (कविता को समाप्त करने पर) अथवा उस के प्रभाव के क्षीण होने पर फिर व्युत्थान होता है। आध्यात्मिक अनुभूति आत्मा के उस चिद्घन स्वरूप की अनुभूति है जिसे अहं के सुख और दुःख आच्छन्न कर लेते हैं। आध्यात्मिक अनुभूति के लिए संकल्प-शक्ति के साथ साथ प्रज्ञा को भी सिद्ध करना पड़ता है। प्रज्ञा ही 'अहं' के निःसार और अनित्य रूप को प्रगट करती है।

काव्यानुभूति में ज्ञान और कर्म का सन्धान तो नहीं होता परन्तु फिर भी इस में हमारो ध्यान-शक्ति अशिथिल रहती है। इस में चेतना की सृजन-शक्ति का बाध नहीं होता। यह सृजन दिवा–स्वप्न की भांति मनःशक्ति की मन्दता की उपज नहीं और न ही विशृङ्खल चेतना–खण्डों का सन्निधान मात्र हैं। इस में एकसूत्रता

होती है । "सूत्र में मणिगणों की तरह" कवि और संहृदय की अनुभूतियां पिरोई रहती हैं। ("मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव")। कवि और भावक उन व्यक्तियों के समान नहीं जो व्यावहारिक जीवन में विफल हो कर दिवास्वप्नों में विलास करने लगते हैं । ऐसे दिवास्वप्न मनोमान्द्य के सूचक हैं और भावक अपनी अन्तःशक्तियों के सावधान नियन्ता हैं। वस्तुतः कर्मोन्मुखता की तरह भावना भी हमारी चेतना का एक आयाम है। मनश्चित्रों और वास्तव जीवन के ठोस कामों में ऐसी विषमता नहीं जिस का समाधान न हो सके। जिस प्रकार हिम पानी में और पानी हिम में बदलता है उसी प्रकार हमारे मनश्चित्र दैनन्दिन जीवन के कामों में और व्यवहार–जगत के कार्य कलाप भावनाओं और और मनश्चित्रों में बदलते रहते हैं। अतीत और भविष्य ऐसी कल्पनाओं और मनश्चित्रों से ही बने हैं। मानस प्रवाह को रोकना और अभीष्ट दिशा में ले जाना आसान नहीं । कवि और भावक उस योगी के समान हैं जो आष्टांगिक योग की धारणा और ध्यान स्थितियों की साधना कर रहा है । इसीलिए भारतीय परंपरा में कवि कर्म साधना योग-साधन के समकक्ष माना गया है।

काव्यानुभूति को केवल साधारण सुख, आमोद, आस्वाद्य मनोराग का समकक्ष नहीं माना जा सकता और न ही इसे इन में पर्यवसित किया जा सकता है । सुख अथवा दुःख में अहं का मन के साथ तादात्म्य हो जाता है; काव्यात्मक अनुभूति में अहं मानस अवस्थाओं से विविक्त हो कर उन का भावन करता है । यह विविक्त

हुआ अहं ही आत्मा का द्रष्टारूप है। आध्यात्मिक आनन्द सुख दुःख से परे विषयातीत है। (सुखं दुःखसुखात्ययः)। भागवत के अनुसार सुख और दुःख के परे जाना ही वास्तव सुख है। लौकिक अनुभव सुख और दुःख का ताना–बाना है। लौकिक सुख वह मधुकोष है जिसे प्राप्त करने वाले को दुःख का मक्षिकादंश सहना ही पड़ता है। कला से प्राप्त होने वाला सुख दंश रहित है। लौकिक मन से जो सुख दुःखात्मक है आत्मा के आनन्द की ओर जाते हुए कलात्मक अनुभूति मानों मार्ग का पड़ाव है।

यह आनन्द ब्रह्मास्वादसहोदर है। जिस प्रकार ब्रह्मास्वाद में अहं का विलय हो जाता है उसी प्रकार यहां भी। यह आनन्द विषय को आत्म-समर्पण करने से, उस में पूर्णतया लीन हो जाने से उत्पन्न होता है। ब्रह्मास्वाद से यह किस प्रकार भिन्न है (सहोदरों में भी वैदृश्य होता ही है) यह हम अभी देखेंगे। यहां हमें यही कहना है कि जिस प्रकार ब्रह्मास्वाद में चित्तवृत्तियां निरुद्ध हो जाती हैं उसी प्रकार यहां वृत्तियों का व्यभिचरण, विक्षेप समाप्त हो जाता है। सुख और दुख का अनुभव वासनाओं की उदग्र अवस्था में होता है, आनन्द का मन के विश्रान्त हो जाने पर। भेदाभेदवाद के अनुसार आनन्द को पूजा की अवस्था भी कहा जा सकता है क्योंकि तान्त्रिक उपासना में उपासक उपास्य के, विषयी विषय के, साथ तादात्म्य प्राप्त करने के लिए ही यत्न करता है। उपासना में भी उपासक स्रष्टा भी है और द्रष्टा भी। स्रष्टा और द्रष्टा होने के कारण ही वह जड़ पाषाण अथवा धातु में अशेष मंगलमय विभूतियों का साक्षात्कार

करता है ।

यह आनन्द चिन्मय है, यह अखण्ड भावनात्मक अनुभूति है । अतः सृजनात्मक है। कवि के संस्पर्श से सहृदय भी कवि हो जाता है। सृजनात्मक होने का अर्थ है बाह्य व्यापार, घटना के कंकाल को अपने संस्कारों से मांसल बनाना । घटना का घटित होना एक बात है— उस के सौन्दर्य्य की अनुभूति दूसरी बात । साधारण अनुभव भी घटना और हमारी प्रतिक्रिया दोनों के मिलन से निष्पन्न होता है। जहां यह प्रतिक्रिया नहीं वहां जगत् निरपेक्ष घटनाओं की सन्तति बन जाता है । भावना के आनन्दन स्पर्श से जड़ अक्षर सजीव हो उठते हैं और सहृदय अनात्म को आत्मसात् करने लगता है । यह सृजनात्मक आनन्द ही जड़ अक्षरों को नींव पर काव्य के सौध भवन को खड़ा करता है। भावना आनन्द का ही रूप है। कवि को भावना की तरह सहृदय की भावना भी सृजनात्मक है। आनन्द की सृजनशक्ति की ओर उपनिषद् ने सङ्केत किया है। "आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते......।"

आनन्द को उपनिषद् में मूलतत्त्व कहा गया है उसी प्रकार जैसे भौतिक विज्ञान के लिए परमाणु अथवा ऋण और धन विद्युत्कण मूलतत्त्व हैं। यह कहना भ्रान्ति है कि काव्यकार तो दुःखों और नानाविध विभीषिकाओं से आक्रान्त जगत् से पलायन कर के एक ऐसे आनन्दलोक का निर्माण करता है जो स्वप्नों से अधिक वास्तव नहीं। वस्तुतः आनन्द को अनावृत करके काव्यकार और सहृदय–व्यापार औपनिषद मूलतत्त्व के साथ ही सम्पर्क स्थापित

करते हैं। जीवन के मरुस्थल से गुज़रते हुए यात्रियों के लिए काव्यकृति कोई क्षणिक विश्राम-स्थली नहीं। जिस प्रकार वैज्ञानिक अपने व्यापार के द्वारा जगत् के मूलवर्त्ती भौतिक तत्त्वों का अनुसंन्धान करता है उसी प्रकार काव्यकार भी उस आद्य आनन्द का अनुसन्धाता और आविष्कर्ता है जो अध्यात्मदर्शन के अनुसार जगत् का आदि, मध्य और अवसान है। केवल धार्मिक आध्यात्मिक काव्य ही इस आनन्द का आविष्कर्ता नहीं। अध्यात्मदर्शन के अनुसार तो यह आनन्द रेत के कण में भी उसी अखण्डरूप में विद्यमान है जैसे बृहत्काय पर्वतों में, अनन्त आकाश में अथवा मनुष्य के अन्तस्तल में। कहने का तात्पर्य यह है कि इस आनन्द के दर्शन कहीं भी हो सकते हैं। जहाँ भी इसके दर्शन होते है वहाँ सौन्दर्य्य के साथ हमारा समागम होता है। ऊपर हमने साहित्य के आस्वादन से प्राप्य आनन्द और ब्रह्मानन्द के अन्तर की बात कही है। यह अन्तर काव्यानन्द के शीघ्र ही 'उपहित' हो जाने—रागद्वेषमय जगत् के प्रति प्रत्यावर्तन के कारण शीघ्र ही इसके समाच्छन्न होने के कारण व्यवहार के धरातल पर उत्पन्न हो जाता है। वस्तुतः काव्यानन्द ब्रह्मानन्द का ही प्रकार है। पारमार्थिक दृष्टि से तो विषय-सुख भी इस उच्छलित क्षीरोदधि के शीकर हैं क्योंकि यदि केवल आनन्द ही परावर तत्त्व है तो सभी प्रकार के सुख इसी का विवर्त्तित रूप हैं—परन्तु जो विषय सुखों के इस रूप को समझ लेता है वह शीकरों का इच्छुक न रह कर अमृताम्बुधि में ही उतरना चाहता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि यह आनन्द-दर्शन यथार्थ

दर्शन है क्योंकि आनन्द ही वास्तव तत्त्व है। साहित्य जीवन की विभीषिकाओं, विकलताओं, और विडंबनाओं की ओर से आंखें मूंद कर इस आनन्द के दर्शन नहीं करवाता। वह इन्हें ही आनन्द के अनावरण का माध्यम बनाता है। त्रासदी में हम दु:ख के माध्यम से ही आनन्द का दर्शन करते हैं। आनन्दवादी यह नहीं कहता कि संसार में दु:ख नहीं है। शायद संसार के क्लेश, कर्मों के दुर्विपाक, का जितना तीव्र ज्ञान और अनुभव उसे होता है उतना तथा कथित निराशावादी को भी नहीं होता। परन्तु उसे यह पता है कि सत्य के मुख को पिहित करने वाली अविद्या चरम शक्ति नहीं। संसार की द्वन्द्वात्मकता का अर्थ ही यह है कि दु:ख के बिना सुख अपनी वास्तवता खो देता है। जीवन की द्वन्द्वात्मकता में दु:ख का अनिवार्य स्थान है। नील-कण्ठता शिव की शिवता का आवश्यक अंश है। जो केवल दु:ख को देखता है वह भी अतथ्य का व्यापारी है और जो दु:ख को नहीं देखता वह भी। दु:ख और सुख दोनों आनन्द के खण्डित हो जाने पर दृष्टिगोचर होते हैं।

भावनात्मक आनन्द मन की एक ऊर्जित अवस्था है। मन की प्रोन्नत अवस्था में ही हम सृजनशील बन सकते हैं। महान् साहित्यकार वे प्रज्वलित प्रदीप हैं जिन्हें छू कर हमारी चेतना भी भास्वर हो उठती है। महान् साहित्यकार की क्रान्तदर्शिनी प्रज्ञा, उस की भावना, जीवन की जिस ऊंचाई तक पहुंचती है वहां साधारण व्यक्ति का दम घुट जाता है। क्रौंच पक्षी बाण से आहत हो कर गिरता है; व्याध के लिए वह भोज्य है-क्षण भर का मनोरंजन है; वाल्मीकि के लिए वह जीवन् में व्याप्त करुणा का अनावरण

है। महान् स्रष्टा हमारी दृष्टि को भी अपनी प्रज्ञा के अंजन से विमल और पारदर्शिनी बना देता है। जो हीन है, तुच्छ है अथवा चिरपरिचय के कारण अवज्ञा का पात्र है नूतन हो जाता है। भावना के पास "नवीकरण" मन्त्र है। सहृदय को चिरपरिचित पदार्थ अपनी सत्ता के नये आयामों को दिखा देता है। वाल्मीकि वर्षाऋतु में बरसात का वर्णन करते हुए कहते हैं:—

मेघाभिकामा परिसंपतन्ती संमोदिता भाति बलाकपङ्क्ति।
वातावधूता वरपौण्डरीकी लम्बेव माला रचिताम्बरस्य॥

मेघों की अभिलाषिणी उड़ती हुई प्रमुदित बकपांत इस प्रकार शोभित है मानों आकाश के लिए बनाई गई उत्ताम श्वेत कमलों की लम्बी माला पवन के द्वारा हिलाई जा रही हो।

जिस सहृदय ने इस वर्णन के सौन्दर्य्य को आत्मसात् कर लिया है उस की बरसात साधारण व्यक्ति की बरसात से अधिक मनोग्राहिणी होगी। ऐसे साहित्यकार हमारे विस्मय की भावना को कुण्ठित नहीं होने देते। यह विस्मय की भावना जगत् को एक शाश्वत पर्व बना देती है। इस से चेतना समृद्ध होती है। यह विस्मय–मिश्रित आनन्द ही कुन्तक का अन्तश्चमत्कार है जिस में हम चेतना के साधारण व्यावहारिक स्तर से उठकर अपनी आन्तर विभूतियों का दर्शन करते हैं।

कवि और दार्शनिक लोक व्यवहार में निपुण लोगों के द्वारा संशय की दृष्टि से देखे जाते हैं। यह तो स्पष्ट है कि उनके मानस और बौद्धिक व्यापार साधारण लोगों से कुछ भिन्न होते हैं। भिन्नता का अर्थ यह नहीं कि कवि, दार्शनिक

और साधारण व्यक्ति के इन व्यापारों में कोई साधर्म्य नहीं। वस्तुत: यह भेद तीव्रता, व्यापिता और पारदर्शिता के आधार पर ही किया जा सकता है। साधारण लोगों के लिए कवि स्वप्नों का द्रष्टा है, यथार्थ से विमुख है और दैनन्दिन जीवन की वास्तविकता से अनभिज्ञ। कवि-कर्म उस के लिए सत्य का वाहन अथवा परिचायक नहीं बन सकता। हमें यहाँ देखना है कि कवि अपनी कृति में वस्तुगत सत्य को प्रगट करता है या कविता कल्पना की निर्बन्ध उड़ान है। क्या सत्य के समग्र स्वरूप में कल्पना का कोई स्थान नहीं ? कविता की उपयोगिता का प्रश्न उस के सत्य के साथ संबद्ध है। यदि कल्पना मनोरम कल्पनाओं का वयन मात्र है और उसकी स्थिति उन रंगीन बुद्बुदों से अधिक ठोस नहीं जो बच्चे खेल खेल में उठाते है तो मानव के उदात्त सांस्कृतिक जीवन में उस का स्थान संदिग्ध हो जाता है।

कविता के सत्य का प्रश्न कला–मात्र के सत्य का प्रश्न है। साधारण जीवन में हम अपने इन्द्रिय गोचर जगत् के पदार्थों को हो सत्य मानते हैं। इन वस्तुओं का यथार्थ चित्रण करने वाली कला हमारे लिए कोई समस्या खड़ी नहीं करती। यह घोड़े का चित्र है, यह बादलों का, यह शहर की तंग गली का जहां का जीवन घुटंन और कुण्ठा से अभिशप्त है '। बच्चे भी ऐसी कला का कुछ सीमा तक आनन्द ले सकते हैं। परन्तु क्या कला अथवा कविता के उद्देश्य की पूर्त्ति इन बाह्य जगत् के सजीव रूपों और व्यापारों को निर्जीव माध्यम के द्वारा साकार करने में ही हो जाती है ? प्लेटो ने इस

अनुकरणात्मक कला का विरोध किया है। घोड़े का चित्र देखने की बजाय यह अच्छा है कि सजीव घोड़े को जा कर देखा जाय।

क्या कविता इस लिए सत्य है अथवा उस अवस्था में सत्य होती है जब यह वस्तुओं अथवा व्यापारों का यथातथ्य ग्रहण करती है, विवरण देती है अथवा चित्रण करती है ? दार्शनिकों में तो सत्य के स्वरूप के संबन्ध में बड़ा मतभेद है। प्रत्ययवादी (Idealist) के अनुसार वस्तु का यथातथ ग्रहण असंभव है क्योंकि ग्रहीता ग्रहण कर्म में ही अपनी चेतना के अनुरूप वस्तु को ढाल लेता है। हमें किसी वस्तु के रूप का ज्ञान यथावत् नहीं हो सकता क्योंकि वस्तु का स्वरूप विषयी की योग्यता पर निर्भर है।

परन्तु यहाँ हमें यथार्थवाद (Realism) और प्रत्ययवाद (Idealism) के पुराने झगड़े में पड़ने की आवश्यकता नहीं। हम ने तो यह देखना है कि कविता जिस सत्य की वाहक है वह साधारण बोध-कर्म में प्राप्त सत्य के समान ही है अथवा उस से भिन्न है और यदि भिन्न है तो किस रूप में ?

हमें इस प्रकार की छन्दोबद्ध रचनाएँ तो मिल सकती हैं जो वस्तु को उस के निरपेक्ष रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा करती हैं। ऐसी रचनाएं भी विश्व-साहित्य में उपलब्ध होती हैं जहाँ किसी बौद्धिक प्रक्रिया को छन्दोबद्ध कर के विशिष्ट निष्कर्ष निकाले गए हैं। उपदेशात्मक रचनाएं अथवा किसी दार्शनिक दृष्टिकोण को तार्किक रीति से स्थापित करने वाली रचनाएं भी कम नहीं हैं। परन्तु क्या उन्हें कविता नाम दिया जा

सकता है। साधारणतया तो किसी भी छन्दोबद्ध रचना कों कविता कह दिया जाता है परन्तु कविता के स्वरूप का अनुशीलन करने वाले को ऐसे शिथिल प्रयोग से बचना पड़ेगा। कविता के द्वारा प्रस्तुत पदार्थ (चाहे वह कोई वस्तु हो या व्यापार) में इतनी क्षमता होनी चाहिये कि बार बार भावित हो कर भी वह चित्त को उद्विग्न न करे। उस का भावन करने से चित्त की संतृप्ति हो। यह भावन-व्यापार अपने आप में साध्य है, किसी बौद्धिक अथवा व्यावहारिक कर्म की सिद्धि का साधन नहीं। कविता में प्रस्तुत दर्शन को सत्यता कविता के सत्य से भिन्न है। कविता में चित्रित व्यापार का सत्य उस व्यापार को अपनी आंखों से देख लेने पर ही प्रमाणित नहीं हो जाता। कविता में चित्रित व्यापार तभी सत्य है यदि वह भावना का विषय बन सके, दार्शनिक कविता तभी सत्य है यदि वह दर्शन बौद्धिक समाधान के द्वारा मनुष्य की केवल आंशिक तृप्ति ही नहीं करता (क्योंकि बुद्धि चेतना का अंश है इसलिए उस की तृप्ति मनुष्य की आंशिक तृप्टि ही होगी) परन्तु एक अनुभूति के रूप में सारे अन्तर्जगत् को अधिकृत कर लेता है।

वस्तु को उस के यथातथ रूप में ग्रहण करने का आदर्श विज्ञान का आदर्श है। डा. रिचर्डस् के अनुसार विज्ञान इस ग्रहण में व्यक्ति की इच्छाओं और भावनाओं को हस्तक्षेप नहीं करने देता इस लिए सम्यग् ज्ञान वैज्ञानिक प्रक्रिया के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इच्छाओं और भावनाओं के हस्तक्षेप के कारण ही कविता वस्तु के यथार्थ रूप तक पहुंचने में असमर्थ है। इस लिए रिचर्डस्

के अनुसार कविता का उद्देश्य किसी सत्य की अभिव्यक्ति नहीं हो सकता । कविता सत्य को प्रगट नहीं करती, उस के द्वारा हम अपनी भावनाओं का परिष्कार अवश्य कर सकते हैं, वस्तुओं के प्रति अपनी भावात्मक प्रतिक्रियाओं को स्वस्थ बना सकते हैं ।

रिचर्डस् का यह मत दोषपूर्ण है । विज्ञान ही सत्य के अनुसन्धान और प्रज्ञप्ति में समर्थ है, कविता नहीं—यह कहना सत्य की परिभाषा को संकुचित कर देना है । वस्तुतः विज्ञान एक प्रकार के सत्य का अनुसन्धान करता है कविता दूसरे प्रकार के सत्य का । विज्ञान में सत्य की प्राप्ति अपनी इच्छाओं और भावनाओं को निरस्त कर के नहीं होती परन्तु बहिर्गत वस्तु-तथ्य के उन पक्षों की ओर से आंखें मूंद कर जिन को ग्रहण करने की शक्ति विज्ञान में नहीं है । इसी प्रकार कविता वस्तु के उन पक्षों की उपेक्षा कर सकती है जो वैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा ही ग्रहण किए जा सकते हैं । (परन्तु कविता उन्हें विशेषरूप से आत्मसात् भी कर सकती है) । इस प्रकार अपनी अपनी पद्धतियों से दोनों सत्य का अनुसन्धान करते हैं ।

कविता का सत्य विज्ञान के सत्य से अवश्य भिन्न प्रकार का होगा । विज्ञान में ग्रहीत पदार्थ अत्यन्त विकलित होता है, उसके बहुत से गुण निरस्त हो जाते हैं (जैसे फूल का सौन्दर्य्य, कोमलता आदि) ; इसलिए वैज्ञानिक सत्य मात्रा, परिमाण, स्थूलता आकार आदि को ग्रहण करता है । इस प्रकार के सत्य को ग्रहण करने के लिए तदनुकूल योग्यता का सम्पादन तो करना ही पड़ता है परन्तु व्यक्तिगत चेतना को तीव्ररूप में प्रभावित

करने वाले गुणों (सौन्दर्य्य आदि) के व्यावृत्त हो जाने के कारण वैज्ञानिक सत्य के सम्बन्ध में सहमत होना कठिन नहीं। परन्तु कविता का सत्य अधिक जटिल होता है। विज्ञान का सत्य सभी वैज्ञानिकों के लिए समान है परन्तु सभी सहृदयों के लिए एक कविता एक ही सत्य की सन्देशवाहक नहीं। यह सहृदयों के अपने संस्कारों पर भी निर्भर है और कविता में मूर्त्त अनुभूति की जटिलता पर भी। किसी कविता में एक ही सत्य अथवा अर्थ उसी प्रकार निहित नहीं होता जिस प्रकार गणित शास्त्र की सरल समस्याओं का एक ही स्पष्ट और असंदिग्ध उत्तर होता है।

संस्कारों का प्रश्न कविता के सत्य के साथ संबद्ध है यदि भिन्न भिन्न संस्कारों वाले सहृदय किसी कविता से भिन्न भिन्न प्रकार की अनुभूति प्राप्त करते हैं तो हम किसी अनुभूति का तिरस्कार नहीं कर सकते। जिस प्रकार हम एक वृक्ष को दूर से भी देख सकते हैं, निकट से भी और पहाड़ की चोटी से भी और यह नहीं कह सकते कि इन में कौन सा "वृक्ष" सत्य है—वस्तुतः सभी 'सत्य' है उसी प्रकार सहृदयों की विविध अनुभूतियां विविध संस्कारों के उच्चावच धरातलों से देखे गए एक ही पदार्थ के विविध रूप हैं और सभी 'सत्य हैं।

ये संस्कार ही भावन-व्यापार में भावित विषय से सम्पृक्त होते हैं और उसे नया रूप देते हैं। कवि और सहृदय दोनों में यह सम्पृक्ति की क्रिया होती है परन्तु दोनों अवस्थाओं में अन्तर है। कवि ने जीवन में किसी तीव्र, मार्मिक अनुभव को प्राप्त किया है जिस से उस का

अर्न्तजगत् अत्यधिक आलोडित हुआ है। परन्तु इस अन्तर्जगत् के आलोडन से ही कवि-कर्म निष्पन्न नहीं होता। वर्डस्वर्थ की कविता की परिभाषा बड़ी प्रसिद्ध है 'कविता वह आवेश है जो प्रसाद अथवा मन: शान्ति की अवस्था में ही चित्त द्वारा स्मृति-पट पर लाया जाता है अथवा पुनरुज्जीवित किया जाता है।'' इस का अर्थ है कि आवेश नहीं आवेश का भावन काव्य का हेतु है। आवेश के भावन का अर्थ है उस आवेश से तटस्थ हो कर उसे देखने का प्रयास। जब तक आवेश अपने दुर्वार वेग से हमें अभिभूत किए हुए हैं, हमारे लिए उस "निर्वैयक्तिकता" की प्राप्ति असंभव है जो तटस्थ भावन के लिए आवश्यक है। उस अनुभूति का भावन अनुभूति से भिन्न है। इसलिए किसी भी अनुभूति को यथावत् कविता में बद्ध करने की चेष्टा व्यर्थ है। एक तो भावन के समय उस अनुभूति के साथ इतर संस्कार, मनोव्यापार और वेग मिल जाते हैं और उसे नया रूप दे देते हैं। दूसरे, शब्दों में रूपायित और छन्दोबद्ध अनुभूति उस अनुभूति से भिन्न हो जाती है जिसने विषय के साथ सम्पर्क के समय हमारी चेतना को आन्दोलित किया।

शब्द जीवित पदार्थ हैं। वे पुष्कल शक्ति से संपन्न हैं। प्रत्येक शब्द प्रयोग से नई अर्थ—भंगियों का संचय करता है। वह जिस तथ्य, व्यापार, विचार आदि का सूचक है उनसे संबद्ध भाव और मनश्चित्र भी उस की अर्थवत्ता के अङ्ग बन जाते हैं। सहृदय मानस में ऐसा शब्द अपने समस्त अर्थ-वैभव के साथ उद्भासित हो उठता है। जब कवि ऐसे शब्दों में अपनी अनुभूति

को व्यक्त करता है तो शब्द उस अनुभूति में अपने प्राण-रस का संचार कर देते हैं। कविता में अभिव्यक्त अनुभूति इस प्रकार कवि की आदिम अनुभूति का शब्द-चित्र न हो कर उसकी परिणति अथवा विकास है।

कविता में कवि इस प्रकार आत्म-दर्शन अथवा अपने मनोजगत् का भी दर्शन करता है। वह अपने अतीत का उद्‌बोधन नहीं करता—यह असंभव है परन्तु अतीत के संस्कारों को विकसित करता है और इस विकास के विधायक हैं शब्द और छन्द।

इस विकास का स्वरूप हमें समझ लेना चाहिए। कवि-समय है कि स्वाति नक्षत्र को बूंद सोप में मोती, सांप के मुँह में विष और कदली—पत्र पर पड़ने से कर्पूर बन जाती है। प्राकृत तथ्य के रूप में यह कहां तक ठीक है नहीं कह सकते परन्तु मानव के मनोजगत् में कुछ ऐसी ही परिणतियां होती हैं इस में कोई सन्देह नही। एक ही अनुभूति प्रमाताओं की विभिन्नता के कारण भिन्न भिन्न रूप धारण कर लेती है। मनुष्य की अनुभूतियां उसके मन में लोष्ठवत् नहीं पड़ी रहती और न ही रेत, कंकड़ के उस ढेर के समान निश्चेष्ट रहती हैं जिस की निश्चेष्टता में दस कंकड़ डालने अथवा बीस निकाल लेने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। वे उसी जीवनी शक्ति की सूक्ष्म अभिव्यक्ति हैं जो हमारे चारों ओर अपनी अक्षय्य सृजनात्मकता से असंख्य रूपों को प्रगट कर रही है। जिस प्रकार वनस्पति और प्राणी-जगत् में यह शक्ति इतर पदार्थों को अपना पोष्य बना कर बृहित होती है उसी प्रकार मनोजगत् में भी यह सन्तान-वाही प्रतीतियों को आत्मसात् करती है।

इसी शक्ति के कारण कवि की अनुभूतियाँ भिन्न २ दिशाओं में विकास करती हैं। जिस प्रकार बहुत से बीजों में से कई अपने शाद्वल पत्तों की घनता में विकास के चरम बिन्दु को छूते हैं, कई पुष्पों के बहुरंगी लावण्य में और कई फलों की सपुटित रस-धारा में, उसी प्रकार कवि की अनुभूति काल-क्रम के साथ साथ विकास को प्राप्त होती हुई विलक्षण रूपों में परिणत होती है। जिस प्रकार बीज जल-वायु, पृथ्वी और सूर्य्य की किरणों से पोषित हो कर विकसित होता है उसी प्रकार कवि की अनुभूति उसके संस्कारों, भावनाओं, स्मृतियों, आवेगों, के धरातल पर बहिर्जगत् के रूपों और व्यापारों से पोषित होकर और शब्द की सारस्वत किरणों का संस्पर्श पाकर कविता में उद्बुद्ध हो उठती है। यह अनुभूति का बीज ही गीतियों की नताङ्गी वल्लियों का रूप भी धारण करता है और प्रबन्ध-काव्य के जटाल वट-वृक्ष और अश्वत्थ का भी।

इस प्रकार कवि की मूलगत अनुभूति और कविता उसी प्रकार एक ही वास्तविकता के छोर हैं जैसे बीज और वृक्ष। कविता इस प्रकार अन्तरात्मा की थाह लेने का साधन है। कवि नवीन अनुभूतियों का स्रष्टा है। सहृदय के लिए वह कविता नवीन अनुभूतियों का आधार-फलक बन जाती है। सहृदय के अपने संस्कार है। संस्कार यदि कविता में निबद्ध अनुभूति के अनुरूप हैं, निकटस्थ हैं अथवा उस से समंजस हो सकते हैं तो सहृदय के लिए वह कविता आत्मदर्शन का साधन बन जाती है।

यदि साहित्य केवल भावों की प्रदर्शनी मात्र नहीं तो प्रश्न होता है वह किस प्रकार के सत्य का वाहक है? साहित्य

का सत्य वैज्ञानिक के सत्य के समान स्पष्ट सूत्रों में उपन्यस्त नहीं किया जा सकता। वस्तुओं के सम्बन्ध में यथावत् सूचना देने का प्रयत्न करना (वह इस प्रयत्न में कहां तक सफल होता है यह और बात है) वैज्ञानिक का आदर्श है। साहित्यकार इस प्रकार का "रिपोर्टर" नहीं।

साहित्यकार जिस सत्य को देता है उसका सृजन भी करता है और दर्शन भो। दर्शन इस लिये कि उस के व्यापार के बिना सत्य राग-द्वेषात्मक जीवन की धूलि और धूम से आच्छन्न रहते हैं और उसकी भावना ही आवृत को अनावृत करती है। सृजन इसलिए कि अपनो कल्पना-शक्ति के द्वारा जिस कृति का वह प्रणयन करता है उसी के माध्यम से ही वे सत्य देखे जा सकते हैं। ये सत्य नैतिक -धार्मिक सत्य कहे जा सकते हैं। परन्तु इस बात का हमें ध्यान रखना पड़ेगा कि यहाँ धर्म और नीति से कोई परंपरीण मतवाद अभिप्रेत नहीं। नैतिक धार्मिक सत्यों का—अभिप्राय है वे आस्थाएँ जिन के आलोक में हम अनुभव का-उसके संघटक अवयवों का—मूल्याङ्कन करते हैं। इस दृष्टि से पुराणपन्थी पंडे, विमल-प्रज्ञ दार्शनिक और उग्र से उग्र अनोश्वरवादी सभी विशिष्ट धर्मों के अनुयायी हैं, अनुभव का मूल्याङ्कन करने के लिए सभी के अपने अपने मान दण्ड हैं।

सत्य का अपलाप संभव नहीं। जो कहता है कि "मैं सत्य कहे जाने वाले किसी ढकोसले में विश्वास नहीं रखता" अपने इस वाक्य से ही अपनी स्थिति का खण्डन कर रहा है क्योंकि वह आशा करता है कि हम उसके सिद्धान्त को—"सत्य भ्रममात्र है—"सत्य" मानें।

उपन्यासकार हमें दिखाता है कि उसके पात्र अर्थ, काम आदि पुरुषार्थों में से किसी न किसी की साधना कर रहे हैं। ये पुरुषार्थ ही उन के लिए सत्य हैं। उपन्यासकार सीधे शब्दों में इन सत्यों की घोषणा न करता हुआ भी पात्रों के प्रति अपने दृष्टिकोण, चरित्रों के विकास और भाग्यों के आरोह, अवरोह द्वारा ही इन पुरुषार्थों के सम्बन्ध में अपनी धारणा को अभिव्यक्त कर देता है। वस्तुतः पुरुषार्थी, 'मूल्यों' के अनुसन्धायक के रूप में भी मानव उतना ही सत्य है जितना अपने उस दैहिक रूप में जिस का विवरण वैज्ञानिक-चिकित्सक दे सकते हैं। साहित्य की विशेषता इस में है कि आदर्शों के अनुसन्धायक मानव का रूप इसी के द्वारा अनावृत किया जा सकता है। ये मूल्य निम्नकोटि के—कामुक के, अर्थ लोलुप के—हो सकते हैं परन्तु जो इनकी दुर्निग्रह शक्ति से बाधित हो कर इन का अनुसरण करता है उस के लिए ये आदर्श ही हैं।

साहित्य ही इस प्रकार मनुष्य का समग्ररूप से आकलन कर सकता है—विज्ञान और तर्क-निष्ठ दर्शन में यह शक्ति नहीं। साहित्य में मनुष्य के समग्र अन्तःकरण—बुद्धि, अहंकार, मन—धार्मिक नैतिक आदर्शों, भाव-जगत् के वेगों, संकल्पविकल्पों, राग–द्वेषों का प्रतिफलन भी होता हैं और मूल्याङ्कन भी। विज्ञान मानव का अध्ययन करने के लिए उसे विकलाङ्ग कर देता है क्योंकि विज्ञान के पास मनुष्य की सौन्दर्य्य-भावना, नैतिक चेतना और आध्यात्मिक साधना को समझने और इनका मूल्याङ्कन करने के साधन नहीं हैं।

जैसा कि हम ने ऊपर कहा है साहित्य का मुख्य

उद्देश्य तो वह भावनात्मक अनुभूति है जो शब्दों के माध्यम से प्राप्त होती है। यह अनुभूति जीवन की तामसता का निराकरण करती है। तामस प्राणी के लिए जीवन और जगत् यान्त्रिक क्रियाओं की निरर्थक आवृत्ति मात्र हैं। जीवन सृजनशीलता का नाम है—वह यन्त्र की जड़ आवर्तनशीलता का परिपन्थी है। साहित्य हमें चेतना की सृजनशक्ति को उन्मीलित करने का निमन्त्रण देता है। जब यह सृजनशक्ति नष्ट हो जाती है तो हम जड़ पदार्थों के सधर्मा बन जाते हैं। इस सृजनशीलता के कारण ही हम अनेक नाम रूपों को धारण कर सकते हैं। अपने व्यक्तित्व को एक ही नाम रूप के द्वारा सीमित कर देना तामस अहंकार की स्थिति है। जैसे जैसे हम बड़े होते हैं तामस राजस संस्कारों की परतें चेतना को मलिन करती चली जाती हैं और हम अपने ही बन्दी बन जाते हैं। अनेक नाम रूपों को धारण करने का अर्थ है भावना में इतर प्राणियों के साथ तादात्म्य। यह स्थिति भी कई अंशों में मोक्ष के समान है क्योंकि मोक्ष में भी विद्वान् नामरूप का सर्वथा परिहार कर देता है। यहाँ इस प्रकार का परिहार तो नहीं परन्तु अनेक नाम रूपों को धारण करने का अर्थ है कि हम इन में से किसी में भी नितान्त आसक्त नहीं।

साहित्य के मूल्य को साहित्य में ही न देख कर इतर तत्त्वों—नैतिकता, धार्मिकता, सामाजिकता आदि—में ढूंढना अनुचित है। धर्म, दर्शन, सदाचार की शिक्षा और सामाजिक दृश्य का ज्ञान तो अन्य साधनों से भी प्राप्त हो सकते हैं अतः साहित्य की विशिष्टता इन में नहीं देखी जा सकती। परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं कि साहित्य के उन प्रयोजनों को जो भावनात्मक अनुभूति से भिन्न हैं

अवहेलना की जा सकती है। साहित्य की उपयोगिता पर विचार करते हुए हमें यह न भूलना चाहिये कि आनन्द से बढ़ कर और कुछ भी उपयोगी नहीं—आनन्द तो नक़द रकम है बाकी सब तत्त्व-धर्म आदि–तो बैंक के चैंक है। ऐसा होते हुए भी साहित्य की उपयोगिता पर उस के इतर उद्देश्यों को सामने रखते हुए विचार करना आवश्यक है।

ये उद्देश्य अधिक व्यावहारिक हैं अर्थात् दैनन्दिन जीवन की प्रक्रिया के साथ अधिक घनिष्ठ रूप में संबद्ध है।

ऊपर कहा गया है कि साहित्य में मनुष्य के नैतिक आदर्शों, भाव-जगत के वेगों, संकल्प-विकल्पों, रागद्वेषों का प्रतिफलन भी होता है और मूल्याङ्कन भी। वस्तुतः साहित्य में प्रतिफलन और मूल्याङ्कन दोनों के संश्लेष में ही मनुष्य की सृजनात्मक चेतना साकार होती है। उपन्यास में तो इस उद्देश्य की सिद्धि पात्रों के चरित्रों और परिस्थितियों के प्रति उनकी प्रतिक्रियाओं के द्वारा होती है। हमें पता चल जाता है विविध प्रसंगों और परिस्थितियों में आविष्कृत विविधगुणों और मनोवृत्तियों—क्रोध, लोभ, श्रद्धा, अर्थपरता, कामादिवेग—के प्रति साहित्यकार का क्या दृष्टिकोण है उस के सम्मुख मानव का कौन सा रूप आदर्श है, उसके लिए मानवत्व चेतना के किस विशिष्ट आयाम में निहित है। परन्तु कविता में यह उद्देश्य मुख्यतः भाषा के प्रयोग से सिद्ध होता है।

विज्ञान में वस्तु का स्वरूप-वर्णन करते हुए उसका मूल्याङ्कन करना—यह कहना कि वह सुन्दर है अथवा

असुन्दर, रुचिकर है अथवा अरुचिकर—अभीष्ट नहीं। इस से विज्ञान की मूल प्रतिज्ञा का व्यतिक्रम होता है। व्यावहारिक जीवन में हम वस्तुओं के ज्ञान को स्वार्थ सिद्धि का साधन बनाते हैं। व्यावहारिक जीवन में मूल्याङ्कन तो होता है परन्तु इस मूल्याङ्कन का उद्देश्य उस वस्तु अथवा व्यापार में रमण करना नहीं परन्तु किसी इतर लक्ष्य की प्राप्ति है। जैसा कि हमने ऊपर देखा है वैद्य औषधियों, लताओं का निरीक्षण, स्वरूप-ज्ञान, औषध बनाने के लिए ही प्राप्त करता है। साहित्यकार किसी वस्तु अथवा व्यापार अथवा जीवन के किसी रूप का मूल्याङ्कन उस में विश्राम करने के लिए, उस का रस लेने के लिए, उस के भावन के लिए करता है। वस्तुतः इस प्रकार से किसी रूप अथवा व्यापार का भावन करना ही उस का मूल्याङ्कन है। भावन और मूल्याङ्कन भिन्न भिन्न व्यापार नहीं। कवि से बढ़ कर वस्तुओं के सौन्दर्य्य का मूल्याङ्कन और कौन कर सकता है ? वह स्थूल भोग, अस्थिर ऐन्द्रिय संवेदना के लिए किसी विषय की ओर ध्यान नहीं देता। वह विषय में विषय के लिए ही रमण करता है, अतः उस का ध्यान अस्खलित, अव्यभिचरित होता है

यह भावन की अवस्था चेतना की अत्यन्त समृद्ध अवस्था है। इस में विषय और भाव मिलकर उस कवि-विषय को निष्पन्न करते हैं जो विज्ञान और व्यवहार के विषय से भिन्न हैं।

क्या साहित्य का प्रयोजन सहृदय में मनोवेगों का जगाना है ? मनोवेगों का उद्बोधन तो और भी कई

व्यापारों से हो सकता है। नाना परिस्थितियों में हम नाना प्रकार के वेगों का अनुभव करते हैं। हम यह नहीं कह सकते कि मनोवेगों के 'साधारणीकरण' मात्र से यह समस्या हल हो जाती है—यदि 'साधारणीकरण' से हमारा अभिप्राय है मनोवेग का बहु-जन-साधारण होना। वेग का अनुभव चाहे एक व्यक्ति कर रहा हो चाहे अनेक वह है चेतोविक्रिया ही। वस्तुतः सभी प्रमाता एक ही प्रकार की संवेदन-शक्ति नहीं रखते, एक ही कलाकृति के प्रति उन की प्रतिक्रिया भिन्न भिन्न हो सकती है। कोई मन्थनशील वेग का अनुभव कर सकता है और कोई रसास्वादन करता हुआ भी चित्त संप्लव से रहित होता है। वस्तुतः मनोवेगों के लिए ही मनोवेगों का उद्बोधन इस युग का भ्रम है। मनोवेगों का अनुभव अपने आप में प्रशस्त नहीं क्योंकि एक ही मनोवेग—क्रोध—का उद्बोधन स्थिति की अपेक्षा में प्रशस्त भी हो सकता है और अप्रशस्त भी। राम का सात्विक क्रोध प्रशस्त है परन्तु स्थिति को समक्ष रख कर ही। प्लेटो ने वेगों को अप्रशस्त माना और ऐसी कला की निन्दा की जो चित्त को झकझोर देती है। अरस्तू ने कला को चेतोविशुद्धि का कारण माना। वस्तुतः यह चेतो-विशुद्धि मनोवेग नहीं मनोवेग का भावन है 'दर्शन' है। इस में मनोवेग हमारी चेतना के केन्द्र का अधिवासी नहीं रहता। हमारी चेतना के केन्द्र में उस स्थिति, व्यापार, पदार्थ की भावना होती है जो साहित्यकार की प्रेरक है। मनोवेग स्थिति अथवा व्यापार का सहचर है। स्थिति अथवा व्यापार—साहित्य में ये सब भावना-जन्य हैं—से व्यतिरिक्त मनोवेग या तो गलित भावुकता का रूप

धारण कर लेता है या उस स्थूल भोगवाद का जिस में साहित्य का आनन्द ऐन्द्रिय संवेदनाओं का पर्याय बन जाता है।

यह धारणा कि साहित्य व्यक्तिगत संवेदनाओं और वेगों को अभिव्यक्त करता है आजकल बहुत प्रचलित है। इस पर विचार करने से यह भ्रामक सिद्ध होती है। वेगों का नियमन करना, उन के औचित्य पर विचार करना—इस सिद्धांत के अनुसार आवश्यक नहीं। इन की अभिव्यक्ति से ही मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि व्यवहार-जगत् में जिसे हम आत्मा कहते हैं वह कोई परिनिष्पन्न तत्व नहीं, वह परिवर्तनशील है; वह ऊर्ध्वगामी भी बन सकता है और अधोगामी भी। आत्माभिव्यक्ति तो पत्थर भी निश्चेष्ट रह कर कर रहा है, वृक्ष फली और पुष्पी बन कर अपने आप को अभिव्यक्त करता है, प्रतिशोध से प्रेरित हो कर दूसरे की हत्या करने वाला भी आत्माभिव्यक्ति करता है और जीवन और मानव-आत्मा के स्वरूप पर विचार करके तदनुसार कर्म पथ पर चलने वाला भी। किसी काव्य का मूल्य तो इस बात पर निर्भर है कि उस में अभिव्यक्त होने वाले मानव का स्वरूप विकृत है अथवा अविकृत, खण्डित है अथवा समग्र, क्या मानव केवल आकस्मिक वेगों का किंकर है अथवा उन का स्वामी। मनुष्य का व्यक्तित्व निसर्गतः ही निर्दोष, अथवा शिव-निष्ठ नहीं, उसे इसी "कच्चे रूप" में इसे अभिव्यक्त करने का कोई जन्म-सिद्ध अधिकार प्राप्त नहीं।

इस सिद्धान्त के अनुसार साहित्य मानव को आंशिक रूप में ही प्रस्तुत करता हैं क्योंकि संवेदनाएँ और वेग

उस के व्यक्तित्व का अंश मात्र हैं। इस में प्रज्ञान के अनुसन्धान का तिरस्कार है, साहित्य केवल संवेदनाओं का वाहक बन जाता है। यह सिद्धान्त मानव के अनुभव की संभावनाओं को भुला देता है। केवल वह अनुभव ही साहित्य का उपजीव्य नहीं जो 'वस्तुतः' साहित्यकार को प्राप्त हुआ है। संभाव्य भी साहित्य का क्षेत्र है। जैसा हम ने पीछे देखा है साहित्य अनिवार्यतः उस अनुभव से प्रवृत्त होता है जिस का साहित्यकार भावन करता है। भावन संवेदना से भिन्न व्यापार है।

कोई भी मनोदशा अपने आप में बड़ा जटिल तत्त्व है। किसी मनोदशा को अभिव्यक्त करने का क्या अर्थ है? जब कवि कविता लिख रहा होता है उस समय उस के मन में वर्तमान, अतीत, भविष्य के संबन्ध में ऐसे अनेक विचार अथवा भाव उठ सकते हैं जिन्हें कविता में कोई स्थान नहीं मिलता। इसीलिए कोई भी कविता अविकल रूप से कवि की तात्कालिक मनः स्थिति का चित्र नहीं दे सकती। सहृदय के लिए कविता का मूल्य इस बात पर निर्भर नहीं कि वह कवि की मनःस्थिति का यथार्थ चित्र है—यह जानने के लिए सहृदय के पास कोई साधन भी नहीं है। कवि के मनोविज्ञान से परिचित हो कर ही हम उस की प्रतिभा के रहस्य को नहीं पा लेते। साहित्य-कार के जीवन चरित अथवा मनोविज्ञान के विवरण से हमें उस के सृजनात्मक व्यक्तित्व का वैसा यथार्थ परिचय नहीं मिलता जैसा उस के काव्य से क्योंकि उस की चेतना के अन्तरंग स्तर (केवल संवेदनात्मक व्यक्तित्व नहीं) उस की शब्दावलि, रूपविधान, चरित्र-चित्रण, वस्तु-नियोजन में स्वतः ही मूर्त्त हो उठते हैं।

क्या चेतना के अंतरंग स्तरों का मूर्त्त होना आत्माभिव्यक्ति है ? यदि यह आत्माभिव्यक्ति है तो उसी प्रकार जैसे विज्ञान का अनुशीलन वैज्ञानिक की आत्माभिव्यक्ति है ? इस से साहित्य के स्वरूप और प्रयोजन पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। गीतिकार भी जिस व्यक्तित्व को प्रगट करता है वह भावित व्यक्तित्व है 'भावुक' नहीं। साहित्यकार भावों का चित्रग करता है 'अपने' भावों का नहीं। जैसा कि हमने ऊपर देखा है जिस प्रकार वह 'वृक्ष' का चित्रण कर सकता है उसी प्रकार प्रेम आदि भावों का। ये भाव भी 'भावित' होकर—अपनी तात्कालिक उत्तेजक, मथनशील प्रत्यग्रता में नहीं—काव्य के विषय बनते हैं। कवि कविता लिखते समय न तो वृक्ष को देख रहा होता है न भाव का अनुभव कर रहा होता है। वह जिन भावों का अनुभव करता है उनका संबन्ध सृजन—प्रक्रिया से होता है—अमुक शब्द साधु है, अमुक असाधु, वहां मैं अभिव्यक्ति में सफल हुआ हूं, यहां नहीं।

साहित्य नैतिकता के प्रचार का साधन भी नहीं है। रामायण के सम्बन्ध में यह कहना कि इस का प्रयोजन हमें राम का अनुकरण करने की प्रेरणा देना मात्र है, इस काव्य के अनेकधा जृंभित सौन्दर्य्य का तिरस्कार करना है। साहित्यिक कृति बहुत से तत्त्वों का संग्रथन है अथवा एक बहुभूमिक प्रासाद है। हम इन तत्त्वों में से किसी एक को अलग करके उसका परीक्षण कर सकते हैं परन्तु अपने इस व्यापार की सीमाओं को भूल कर हमें यह न कहना चाहिये कि नैतिक मूल्य ही रामायण का सर्वस्व हैं। वस्तुतः नैतिक प्रयत्न

और रस चेतना में एक प्रकार का विरोध भी है। नैतिक प्रयास एक संघर्ष है; इस में हम दो प्रवृत्तियों के बीच दोलायित रहने के पश्चात् एक का वरण कर लेते हैं, परन्तु इस से संघर्ष निःशेष नहीं हो जाता। रस-दशा द्वन्द्वों से उत्तीर्ण व्यक्ति की दशा है। साहित्यिक अनुशीलन से प्राप्त रस दशा चिरकाल तक नहीं रहती परन्तु इससे इस के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता। फिर नैतिकता का प्रचार, सत्यों का समर्थ प्रवचन, नीतिवद् पण्डित और धर्म-तत्त्व के वेत्ता ही ठीक प्रकार से कर सकते हैं। इसे 'कान्तासम्मित उपदेश' कह देने से भी समस्या हल नहीं होती। साहित्य में जब उपदेश इस प्रकार से दिया जाता है—नैतिक मूल्य अभिधेयार्थ के रूप में रहते हैं—तो उसमें विशेष प्रभाव नहीं होता। नैतिक सत्य और सौन्दर्य्य को साहित्य में विविक्त नहीं किया जा सकता। जब नैतिक सत्य साहित्यकार की भावना का अंग बन जाता है तभी उसे साहित्य में समर्थ अभिव्यक्ति मिल सकती है। नैतिक सत्यों के क्षेत्र को साहित्य से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। मनुष्य के सारे कर्म-क्षेत्र पर इन सत्यों का शासन है। जब भी हम कर्म करते समय अपनी स्थिति का मूल्याङ्कन करते हुए कार्य्य पद्धति का निर्धारण करते हैं तो हमारी मूल्य-भावना—क्या अच्छा है और क्या बुरा है—हमारी पथ-प्रदर्शक होती है। दो मनुष्यों की 'मूल्य-भावना' भिन्न हो सकती है परन्तु इस से मूल्य-भावना—नैतिक चेतना—का अस्तित्व तो संदिग्ध नहीं होता। जिस प्रकार साहित्यकार वसन्त ऋतु के सौन्दर्य्य अथवा निशीथिनी की अवाक् रहस्यमयता से प्रेरणा ग्रहण कर सकता है उसी प्रकार वह ऐसे काव्य का प्रणयन भी कर सकता है जिस

का प्रेरण मानव की नैतिक चेतना के विकास अथवा जटिलता द्वारा हुआ हो। परन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है शर्त यह है कि उस की भावना ने किसी नैतिक सत्य को आत्मसात् कर लिया हो, वह उसकी भावना का एक अङ्ग बन गया हो। इस प्रकार के काव्य का सृजन जहां ऐसे धरातल से होता है जहां कोई नैतिक सत्य भावना में व्याप्त हो गया है वहां यह सहृदय की भी नैतिक चेतना को सीधे ही सम्बोधित नहीं करता। यह सहृदय की भी भावना शक्ति को उन्मीलित करके उसे नैतिक सौन्दर्य्य की ओर प्रवृत्त करता है। साधारण जीवन की अहमहमिका के कारण हमारी भावना-शक्ति कुण्ठित हो जाती है। हम अपने में ही बन्द हो जाते हैं अपने तुच्छ स्वार्थ से परे देख नहीं सकते। भावना के विकास से हम दूसरों के सुख दुख को अपना बनाते हैं, उनके साथ तादात्म्य प्राप्त करते हैं। नैतिकता के विकास में इस प्रकार साहित्य परोक्ष रूप में तो सदैव ही सहायक होता है।

अरस्तू के अनुसार त्रासदी में किसी महत्कार्य्य का अनुकरण रहता है। क्या साहित्य का उद्देश्य अनुकरण है?

वस्तुतः अनुकरण का सिद्धान्त साहित्य में कल्पना और भावना के महत्त्व का ही पोषक है। यदि अनुकरण से अरस्तू का अभिप्राय "यथार्थवाद" के अनुकरण से होता तो वह पुरोवर्त्ती पदार्थ के यथातथ चित्रण को अधिक महत्त्व देता। अरस्तू के अनुसार अनुकरण के प्रकार ये हैं।

(i) जो है (अथवा था) उस का अनुकरण
(ii) जो संभाव्य है उसका अनुकरण
(iii) जो होना चाहिये उसका अनुकरण

पुरोवर्त्ती पदार्थ अथवा व्यापार का यथातथ चित्रण (i) के अन्तर्गत है। परन्तु अरस्तू ने (ii) और (iii) को ही अधिक महत्त्व दिया है। अब (ii) और (iii) का अस्तित्व साहित्यकार की चेतना में ही है। 'जो संभाव्य है' और 'जो होना चाहिये' इन का रूप कवि की चेतना द्वारा ही निश्चित होता है। कवि की कल्पना और भावना के द्वारा ही उस के आदर्श अपनी विशिष्टता ग्रहण करते हैं। वस्तुतः कवि यहां ही प्रजापति और स्रष्टा बनता हैं। समस्त जगत् में जो सृजनात्मक शक्ति कार्य्य कर रही है वही कवि के मानस में कल्पना का रूप धारण करती है। विकास का बाह्य जगत् में एक क्रम है। बीज से पौधा, पौधे से फूल, फूल से फल एक विकास क्रम की ही कड़ियां हैं। कवि के मानस के साथ सम्पर्क में आकर वस्तु और व्यापार विकास की नई दिशा को प्राप्त करते हैं। कवि प्रकृति को भाव में बदलता है। प्रकृति का उद्देश्य है चेतना का उत्तरोत्तर विकास। उपनिषदों का पंचकोष का सिद्धान्त इसी तथ्य का परिचय देता है। अन्नमय कोष से प्राणमय, मनोमय, विज्ञान मय और आनन्दमय कोषों की ओर प्रगति मूलतत्त्व के इसी आशय को प्रगट करती है कि चेतना के अधिक से अधिक ऊर्जित रूपों का प्रणयन हो। प्रकृति के इसी आशय को चरितार्थ करने में कवि की कल्पना सहायक बनती है। कवि की चेतना के साथ मिल कर प्रकृति अधिक समृद्ध हो उठती है। इस चित्तस्थ रूप का ही 'अनुकरण' होता है। वस्तुतः प्रकृति अपने में निहित संभावनाओं को मूर्त्त करने के लिए सप्रयास है। जड़ प्रकृति में प्राणतत्त्व, प्राणतत्व से मनस्तत्त्व, इसी प्रकार मनस्तत्त्व से विज्ञान का उद्भव ही इन संभावनाओं का मूर्त्त

होना है । दूध में माखन निहित है उसे मथ कर निकालने का अर्थ है निहित संभावना को चरितार्थ करना। इसी प्रकार प्रकृति, अपने में अन्तर्हित संभावनाओं (मन, विज्ञान आदि) को उन्मीलित करने के लिए प्रयत्न कर रही है । प्रकृति के अन्तस्तल में कोई प्रेरक शक्ति बैठ कर परोक्ष को प्रत्यक्ष कर रही है। संभाव्य के अनुकरण का अर्थ है प्रकृति में निहित इस ऊर्ध्वोन्मुख प्रवृत्ति के आशय को ग्रहण कर के उस को साहित्य में चरितार्थ करना है । प्रकृति तो भावजगत् (मन, विज्ञान) तक पहुंचने के लिए (अन्न से आनन्द तक जाने के लिए) सचेष्ट है ही, कवि अथवा साहित्यकार की कल्पना प्रकृति का वह एक माध्यम है जिस के द्वारा यह संभावना परिणत होती है ।

यदि 'अनुकरण' का अर्थ वर्तमान दृश्य का, पुरोवर्त्ती पदार्थ का यथातथ चित्रण माना जाय तो भी कल्पना और भावना का बहिष्कार नहीं किया जा सकता । यथातथ चित्रण का क्या अर्थ है ? क्या जिस उपवन को मैं ने देखा है उस का यथातथ चित्रण सम्भव है ? यथातथ चित्रण को असंभव बनाने वाली पहली बात यह है कि हम वस्तुओं के निरपेक्ष रूप को जैसा कि काण्ट ने सिद्ध किया है—जान ही नहीं सकते । मानव का ज्ञान मानव की इन्द्रियों के विशेष स्वरूप पर निर्भर है। विषय और विषयी दोनों को एक दूसरे की अपेक्षा है । वस्तुतः यदि वही कला सत्य है जो 'प्रकृति' का यथार्थ चित्रण करती है तो हमें प्रकृति की व्यापकता को भुला नहीं देना चाहिये। देव और राक्षस भौतिक दृष्टि से सत्य हैं, अतः प्रकृति के ही अन्तर्गत हैं। आसुर मन जिस से हिंसा, विध्वंस,

उग्रता, और युद्ध आदि विप्लवों का आविर्भाव होता है प्रकृति की एक वास्तविकता है । हम सब अपने में ही इन आसुरी प्रवृत्तियों का साक्षात्कार कर सकते हैं । असुर और देव ऐसे ही मानसों के अनुकरण हैं ।

यदि यथार्थ चित्रण से यह अभिप्रेत है कि किसी क्षण विशेष में अनुभूत संवेदों और भावों को अवितथ रूप में दे दिया जाय तो यह असंभव हैं क्योंकि ये संवेद और भाव जिस सन्दर्भ विशेष में उत्पन्न हुए थे उसका पुर्निर्माण उसी प्रकार असंभव है जिस प्रकार नदी के प्रवाह को पकड़ने की चेष्टा । वस्तुतः साहित्यकार को अनिवार्यतः अपने वर्ण्य विषय, रूप अथवा व्यापार के कुच्छ अंशों का उत्सग करना पड़ता है और कुछ ऐसे तत्त्वों का आरोप करना पड़ता है जिस का सम्बन्ध उस के अपने अतीत, संस्कारों, स्मृतियों और मनः संस्थान से है । यदि हमारी धारणा यह है कि वर्तमान का यथार्थ वर्णन हो सकता है तो भी साहित्यकार अपने व्यापार के क्षणों में उस की कल्पना अथवा (भावना) ही करता है । वह जिस का 'अनुकरण' कर रहा है वह उसकी अपनी वर्तमान मनोदशा है जिस में भावना के द्वारा प्रस्तुत पदार्थ और उसके अपने संस्कार मिल कर एकरस हो गए हैं । अनुकरण का अर्थ आकृति–सादृश्य का विधान नहीं जैसा कि 'वह सिंह है' इस वाक्य से स्पष्ट है

अतीत का 'यथातथ' वर्णन इतिहास का क्षेत्र है । साहित्यिक कृति में "इतिहास और कल्पना" का विवेचन अनुचित है । साहित्यकार का सम्बन्ध अशोक के जीवन की संख्येय घटनाओं से नहीं परन्तु उस भावना से है जिसका अशोक अपने जीवन में 'अनुकरण' कर रहा है अथवा—

सम्बन्ध रखते हैं। भावना ऐसे कार्य्यों से समिद्ध नहीं हो सकती। जब आप ऐसे साधारण विवरणों को जीवन से निकाल कर किसी व्यक्ति को असाधारण आभा देने वाले महत्कार्य्य के नायक के रूप में ही लेते हैं तो वह चित्र उस अर्थ में यथार्थ नहीं होता जो अर्थ इस शब्द को आज कल के यथार्थवादी देते हैं।

साहित्य और दर्शन

दर्शन और Philosophy पर्यायवाची मान लिए गए हैं; परन्तु इन के अर्थों में कुछ अन्तर है । दर्शन का अर्थ है साक्षात्कार, परोक्ष का अपरोक्ष होना । दर्शन मूलतः साधन नहीं साध्य है; Philosophy का अर्थ है प्रज्ञा से प्रेम। इस का अभिप्राय है कि Philosopher अभी मार्ग पर चल रहा है, ध्येय तक पहुंच नहीं पाया । वह साधक है सिद्ध नहीं । Philosopher शब्द को सुन कर हमें ऐसे व्यक्ति का ध्यान होता है जो बौद्धिक प्रयास से जीवन की ग्रन्थियों को सुलझाने में लगा हुआ है अथवा जगत् को समझने की चेष्टा कर रहा है । वस्तुतः साधना-पक्ष में भी बुद्धि के अतिरिक्त हमारी अन्य मानस और आध्यात्मिक शक्तियों का प्रयोग होना चाहिए, तभी Philosophy में समग्रता आती है, खण्डित व्यक्तित्व समन्वित हो जाता है और हम 'दर्शन' अथवा अपरोक्षानुभूति की ओर अग्रसर होते हैं ।

परन्तु अब हम दर्शन शब्द से वही अभिप्राय लेने लगे हैं जो Philosophy से । कविता में दर्शन का अर्थ

लिया जाता है उसमें अभिव्यक्त विचार-सम्पत्ति और विचारों को ऐसे सन्दर्भ में बौद्धिक प्रसूति ही माना जाता है। हमें यहां दार्शनिक कविता के स्वरूप पर विचार करना है।

क्या कविता को विचारों से लादना अभीष्ट है? क्या ऐसी कविता उसी प्रकार मार्मिक हो सकती है जैसे भाव से समिद्ध कवि-भारती? क्या दार्शनिक कविता केवल छन्दोबद्ध विचारों को ही हमारे सामने प्रस्तुत करती है अथवा दूसरे भी तत्त्व इस में निहित हैं? दर्शन को ऊपर निर्दिष्ट किए गए सीमित अर्थों में लेने पर भी हमें यह मानना पड़ेगा कि दार्शनिक कविता का अपना विशेष महत्त्व है। विचार जगत् का अपना सौन्दर्य्य है। यह सान्दर्य्य सूक्ष्म है, अतः जिन्होंने इसे पहचानने और इस में रमण करने का अभ्यास नहीं किया उन के लिए यह दुर्विभाव्य है। बाह्य जगत् के सौन्दर्य्य पर मुग्ध होना उतना कठिन नहीं। वसन्त की सुषमा, लहरों की चटुलता और यौवन की माया पर सब सम्मुग्ध हो सकते हैं, पर दर्शन के सूक्ष्म, और निष्कलुष सौन्दर्य्य में बड़े बड़े भावुक हृदय भी जड़ता को ही देख सकते हैं। परन्तु कोई कारण नहीं कि इस जगत् के सौन्दर्य्य से प्रेरणा ग्रहण न की जाय। जिस प्रकार कई व्यक्ति उषा की अरुणिमा को, वर्षा के काले बादलों को अथवा शिशु की अवदात मुस्कान को देख कर आनन्द से तरल हो उठते हैं उसी प्रकार दूसरे शंकर अथवा बुद्ध अथवा मार्क्स के जगत् में प्रवेश कर अनिर्वचनीय अनुभूतियों के लोक को पा लेते हैं। सब प्रकार का सौन्दर्य्य सब प्रकार के व्यक्तियों के लिए

सहजगम्य नहीं होता। स्थल कोटि के सौन्दर्य्य को छोड़ कर शेष सब प्रकार के सौन्दर्य्य की अनुभूति के लिए—कला, नीति, अध्यात्म के सौन्दर्य्य की प्रतीति के लिए—साधना अपेक्षित है। जो मनः शक्ति के अभाव, शैथिल्य के कारण अथवा अनास्था के कारण ऐसी साधना का मूल्य देने के लिए तय्यार नहीं उन्हें दार्शनिक कविता की आलोचना का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता।

दार्शनिक कविता इस प्रकार विचार और भाव के द्वैध को समाप्त कर देती है। वस्तुतः विचार जब तक तर्क प्रसूत धारणाओं के क्षेत्र तक रहते हैं वे हमारे लिए अजनबी बने रहते हैं। हम उन्हें अपनी चेतना के एक कोने में—तर्क-प्रवण बुद्धि के अलिन्द पर—ठहरने के लिए जगह दे देते हैं पर हम अन्तर्गेह में उन्हें तभी ले जाएंगे जब वे भाव-बन्ध के कारण हमारे निकट आ जाएंगे। वस्तुतः विचार और भावना के ग्रन्थिबन्धन से ही नवीन व्यक्तित्व का जन्म होता है। दार्शनिक कविता ऐसे जन्म के अवसर पर गाया जाने वाला हर्ष गान है। जितनी बार अन्तरतम में विचार और भावना मिलते हैं उतनी बार ही हमारे व्यक्तित्व में नूतन शक्ति का संचार होता है और हमें चेतना के नवीन लोकों की प्राप्ति होती है। यही वह नव जन्म है दार्शनिक कविताएं जिस की स्मारक हैं। जिन 'कविताओं' में विचारों को केवल छन्दोबद्ध किया गया है उन का महत्व उतना ही है जितना छन्दोबद्ध गणित के सिद्धान्तों का। प्रश्न यह है कि कोई विचार-धारा कहाँ तक हमारे व्यक्तित्व के साथ एकरस हो गई है हमारे मन में भाव की कितनी ऊष्मा जगा सकती है और कहां तक हमारे अन्तः

संघर्षों का समाधान (चाहे वे क्षणिक ही क्यों न हों) कर सकती है ?

विचार अपने आप में पंगु हैं, भाव के कन्धों पर चढ़ कर ही वे जीवन की गतिशीलता में भाग ले सकते हैं। कवि के हृदय को जिस विचार ने नवीन स्फूर्त्ति का उन्मेष, नवीन सौन्दर्य्य अथवा सत्य की झलक दी है वही उसे गाने के लिए विवश कर सकता है । भाव सृजनात्मक तत्त्व है। भवन और भावन में यह अन्तर है कि एक में रूपान्तर प्रकृति की जड़ शक्तियों की अन्धक्रिया से होता है दूसरे में हमारी अन्तश्चेतना इसका विधान करती है। हमारी भावात्मक चेतना के साथ सम्पर्क में आकर जड़, बाह्य प्रकृति और मन के आवेग नया रूप धारण करते हैं। जिस प्रकार खाए हुए भोजन को हम अपने अन्दर के रसों के कारण ही जीर्ण कर पाते हैं उसी प्रकार इस भावात्मक चेतना की सृजन शक्ति से जड़ वस्तुओं के संघात और मानस व्यापारों की अविरत संतति में हम प्राण–प्रतिष्ठा भी करते हैं और उन्हें नई दिशा भी देते हैं। वस्तुतः यह भावात्मक चेतना मनोवेगों का समाहार मात्र नहीं, इस में "बुद्धि" और 'हृदय' समंजस रूप में स्थित हैं। यह वह अविकल बुद्धि है जिस के संबन्ध में गीता ने कहा है—बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः "। बुद्धि और हृदय का द्वैध आधुनिक युग की विकृतियों में से एक है और विज्ञान के उत्कर्ष के कारण इस का जन्म हुआ है । इस प्रकार के द्वैध के कारण ही हम कविता को मनोवेगों का विलास समझ लेते हैं। यद्यपि सब प्रकार की कविता में इस द्वैध को मिटाने का प्रयास होता है परन्तु उत्तम कोटि की दार्शनिक कविता में यह प्रयत्न पूर्ण रूप से सफल होता है।

दार्शनिक कविता में विचार मनन के निष्कर्ष रूप में नहीं 'अनुभूति' के रूप में आता है। विचार की अनुभूति भी वैसी ही तीव्र, असंदिग्ध और प्रत्यग्र हो सकती है जैसी प्रकृति के किसी मनोरम दृश्य की-सुरभित कुंज वीथी की, राका के सौन्दर्य्य की, अथवा समीर-प्रेङ्खित लहरियों की। सहृदय को ऐसी कविता के पढ़ते ही पता चल जाता है कि अनुभूति की तीव्रता की क्या मात्रा है, वह कवि के हृदय के साथ कहां तक एकरस हुई है, वह अधरों से चिपकी हुई धारणा मात्र है या प्राणों के स्पन्दन में सुनाई देने वाला संगीत। यह न भूलना चाहिये कि कवि का अपने विषय (यहां कोई विचार-धारा अथवा परंपरा) के साथ भावात्मक तादात्म्य, एकाकारता, क्षणिक भी हो सकती है और जीवन भर के लिए भी। आजीवन रहने वाला यह तादात्म्य कवि को द्रष्टा बना देता है, उसकी वाणी आप्तवचन बन जाती है। शंकर तर्क के द्वारा भी वेदान्त की स्थापना करते हैं और उस दर्शन के प्रति निवेदित हृदय के राग को अपनी कविता में अमर भी कर गए हैं। यह आजीवन तादात्म्य वाणी को आर्ष गंभीरता दे देता है। इस तादात्म्य के स्वरूप के संबन्ध में हम पीछे विचार कर चुके हैं। क्षणिक तादात्म्य का अर्थ यह है कि कवि जहाँ उठती हुई जवानी, प्रेम की रंगीनी, और इतर लौकिक कामनाओं के आकर्षण का अनुभव कर रहा है वहां बीच बीच में बौद्धिक लोक के प्रसाद और अध्यात्म की अपांसुल शुभ्रता की ओर भी झुकता है। परन्तु कवित्व की दृष्टि से यह कोई दोष नहीं। हमें तो यही देखना है कि वह जिस लोक की ओर उन्मुख हुआ है उस के साथ कहाँ तक एकरूप हो सका है

दार्शनिक कवि की भाषा केवल विचार का प्रेषण नहीं करना चाहती। दार्शनिक कविता का मूल्य उस के विचारों में ही पर्यवसित नहीं हो जाता। उत्तम कोटि की दार्शनिक कविता में विचारों में और उन्हें अभिव्यक्त करने वालों शब्दों में अनिवार्य संबन्ध होता है, विचार की अनुभूति अपने लिए उपयुक्त परिधान ढूंढ लेती है। विचार लय, भाव-चित्र, और शब्दों से इस प्रकार "अलंकृत" (समर्थ बनाया गया) हो जाता है कि जीवन में उस की सार्थकता—थोड़ी देर के लिए ही सही—ऐसे व्यक्ति के लिए भी स्पष्ट हो जाती है जो उस विशिष्ट विचार धारा के साथ सहानुभूति नहीं रखता। यदि हम ने जीवन में विचार की शक्ति का अनुभव किया है तो उस की भाव-संवलित आकृति से हमारा परिचय हो ही जाता है। शब्द दार्शनिक कविता में उस मनःस्थिति को मूर्त्त करते हैं जब भाव और विचार जल-वीचि के समान एक होते है। ऐसी अवस्था को रूपायित करने के लिए कविता के सब उपकरणों—लय, छन्द, चित्रण—आदि का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। किसी दर्शन-ग्रन्थ की भाषा को जिस में सिद्धान्त का प्रतिपादन है बदल देने से लेखक के आशय में विशेष अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि वहां लेखक के व्यक्तित्व का केवल एक अंश—उस की बौद्धिक चेतना—ही प्रतिफलित हुआ है—परन्तु कविता में—चाहे वह दार्शनिक हो अथवा न हो—हमारी चेतना के सभी स्तर सक्रिय होते हैं और इसीलिए उस की भाषा में तदनुरूप संव्यूढ जटिलता आ जाती है। वहां पर अभिव्यक्ति के समस्त उपादान इस प्रकार से संव्यूढ होते है कि एक को हिलाने से सभी के संकुलित अथवा अपदस्थ हो जाने का डर होता है।

साधारणतया हम यह समझ लेते हैं कि कविता भाव का क्षेत्र है और दर्शन विचार अथवा बुद्धि का। यह निरपेक्ष द्वैत ठीक नहीं। हम यह भी नहीं कह सकते कि इस विभाजन का कोई आधार नहीं। बुद्धि का अभिप्राय यदि केवल तर्कणा शक्ति लिया जाय तो भाव से और सहजानुभूति (Intuition) से आपातत: उसे अलग किया जा सकता है। इस बुद्धि के प्रभाव के कारण दर्शन को विज्ञान के निकट लाने की चेष्टा की जाती है। यह बुद्धि वस्तु का आंशिक ज्ञान ही दे सकती है। यह विश्लेषण तो कर सकती है परन्तु विश्लेषण मात्र से हम सत्य को अधिगत नहीं कर सकते। फूल की पंखुरियों को अलग अलग करने से उस के सौन्दर्य्य और मानव के अवयवों के विशकलन से उसके प्राणतत्व का परिचय हम नहीं पा सकते। बौद्धिक ज्ञान हमें अपने परिवेश को नियन्त्रित करने की शक्ति देता है विशेषत: अपनी उस विधा अथवा प्रकार में जिसे हम 'विज्ञान' कहते हैं। इस दृष्टि से यह उपयोगी हो सकता है परन्तु उपयोगिता और सत्य एक ही तत्व नहीं। जगत् के परिवर्तमान और चल रूपों की आन्तर अनुभूति बौद्धिक ज्ञान की स्थिरता द्वारा नहीं दी जा सकती। बौद्धिक ज्ञान में व्यक्तित्व की समग्रता खण्डित हो जाती है, वस्तु के बाह्य गुणों के परिगणन और वर्गीकरण से वैज्ञानिक बुद्धि तो तुष्ट हो सकती है परन्तु हमारी सौन्दर्य्य भावना का समाधान इस से नहीं होता। इस प्रकार का ज्ञान बहिर्वर्त्ती आवरण अथवा इन्द्रियगोचर गुणों का तो हो सकता है, वस्तुओं और प्राणियों में स्पन्दमान और उन के वास्तव रूप के विधायक सत्य का नहीं। यह ठीक है इस प्रकार का ज्ञान कविता के प्रति संशयालु रहेगा और उसे

विकृति अथवा भ्रान्ति मानेगा परन्तु इस प्रकार का बुद्धिवाद दार्शनिक जगत् में भी अधिक प्रतिष्ठा नहीं पा सकता। वस्तुतः जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है बुद्धि और हृदय के द्वैध को सत्य मान लेने से ही दर्शन और कविता के सामंजस्य का प्रश्न उठता है। इस प्रकार के विभाजन से हृदय अस्वस्थ भावुकता का वाहक बन जाता है और बुद्धि शुष्क विचारों की जनयित्री। वस्तुतः बौद्धों की प्रज्ञा और गीता की 'बुद्धि' तर्क-प्रसविनी शक्ति मात्र नहीं। ज्ञान के समस्तक्षेत्र में इस का संचरण है। इस में और सहज ज्ञान में विरोध नहीं। यह बुद्धि ही परिपक्व हो कर 'प्रज्ञा पारमिता' बनती है जिस में धारणा और क्रिया समन्वित हो जाती हैं। वस्तुतः सहज ज्ञान बुद्धि का च्यवन कर के उदय नहीं होता, यह उस की परिणति है। तर्क के क्षेत्र में भी हमें एक प्रकार के सहज ज्ञान को अपनाना पड़ता है क्योंकि हम अपनी तर्क-शक्ति में आस्था रख कर इस के द्वारा सत्य प्राप्ति की चेष्टा करते हैं और यह आस्था किसी तर्क पर आश्रित न होने के कारण सहज ही मानी जायगी। वस्तुतः बुद्धि का क्षेत्र केवल तर्क-प्रसूत निष्कर्षों तक ही सीमित नहीं कर देना चाहिये। जहां भी जिस कोटि का भी ज्ञान होता है—कला के क्षेत्र में, इतिहास में, धर्म में, सामाजिक जीवन में-हमें बुद्धि केव्यापार को देखना चाहिये। वस्तुतः कविता भी दर्शन के समान ज्ञान की वाहक है—बुद्धि के व्यापार को विज्ञान और न्याय के क्षेत्र में सीमित कर देने से ही हमें यह भ्रान्ति हो जाती है कि कविता केवल भाव का वाहन है।

दार्शनिक कविता का ध्येय सर्वांश में वह नहीं होता जो दर्शन का है। दर्शन सत्य का अनुसन्धान करता है,

उस का लक्ष्य है, ज्ञान और अधिक ज्ञान। उसका विश्वास है कि बहुविध विषमता के पीछे कोई परम सत्ता है, अथवा एक या अनेक तत्त्व हैं जो किसी शाश्वत विधान के अनुसार जगती में अभिव्यक्त हो रहे हैं। वह अपने मन्तव्यों की स्थापना के लिए बुद्धि से काम लेता है, नाना-प्रकार की मानवीय अनुभूतियों का अनुशीलन करके उन से समुचित निष्कर्ष निकालता है, वह व्यवस्था, और 'यथार्थ ज्ञान' का साधक है। उस की बुद्धि ने जिस मार्ग को चुना है उस पर उसे चलते ही जाना है। यदि कोई जड़वादी दार्शनिक अध्यात्मवादी बन जाता है तो इस का यह अर्थ नहीं कि उस ने पहला मार्ग छोड़ दिया है। हम इतना ही कह सकते हैं कि वह जिस मार्ग पर चल रहा है उस में अमुक अमुक मोड़ हैं।

इस के विपरीत कवि किसी विशेष बौद्धिक दृष्टिकोण, पद्धति, अथवा सिद्धान्त को आग्रह से पकड़ने के लिए बाधित नहीं। वह मानस अथवा बौद्धिक जगत् का यायावर भी बन सकता है। यह आवश्यक नहीं कि उस ने बौद्धिक ग्रन्थियों को सुलझा कर किसी विशेष दार्शनिक दृष्टिकोण को अपनाया हो अथवा अपने सिद्धान्त की सयुक्तिक स्थापना कर सकता हो। आवश्यक यह है कि उसने अपने मन में उस दर्शन अथवा विचार-धारा के सौन्दर्य्य का अनुभव किया हो, और ऐसा करके उसके चित्त में शान्ति, प्रसाद अथवा सात्विक उल्लास का संचार हुआ हो। इस प्रकार जब कोई दर्शन चेतना को अधिकृत कर लेता है तभी वह कविता में मूर्त्त हो सकता है।अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जिन की सौन्दर्य्य की अनुभूति ऐसे दार्शनिक चिन्तन, अनुध्यान अथवा भावन के साथ संबद्ध है। किसी दर्शन

को अपनाने का अर्थ है जीवन, जगत् और मानव व्यक्तित्व को एक विशेष दृष्टि कोण से देखना। जैसे जैसे द्रष्टा में परिवर्तन होता है दृश्य भी तदनुसार बदलता है। कवि द्वारा भावित दर्शन उस के जगत् को भी नया रूप दे देता है। इस नवीन जगत् को देख कर उद्बुद्ध होने वाली भाव-राशि ही दार्शनिक कविता का प्राण है। सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा तो अस्थि—पंजर मात्र है। कवि का उद्देश्य सिद्धान्तों को प्रस्तुत करना नहीं परन्तु उन सिद्धान्तों के स्वीकरण से किस प्रकार के भावों का उन्मेष होता है—यह बताना है। इस संबन्ध में सूचनामात्र देने के लिए तो गद्य पर्याप्त होगा परन्तु भावों की सूक्ष्म-तरल भंगियों का ग्रहण कविता में ही हो सकता है। दार्शनिक कविता में लय, ध्वनि-संगीत, वर्णमैत्री, आदि का उपयोग उन विचारों के स्वीकरण से प्रसूत भावों की रमणीयता को पकड़ने में है।

वेदान्त को विषयरूप में लेने वाला कवि भेद का धिक्कार करने वाली तर्क शृङ्खला को प्रस्तुत नहीं करता। यदि वह ऐसा करता है तो कविता और दार्शनिक उपपत्ति के भेद को नहीं जानता। उसे दिखाना चाहिए कि इस दर्शन को अपनाने से किस प्रकार प्रतिदिन का व्यवहार-जगत् नवीन अर्थ-सम्पत्ति से सम्पन्न हो उठता है, जगत् की विषमताओं के साथ टकरा टकरा कर गिरने वाला व्यक्ति किस प्रकार अस्खलित गति से आगे बढ़ता है, किस प्रकार चित्त विविधता के दर्शन से संघर्षस्थली और एकत्व की प्रतिष्ठा से अथवा प्रणय के क्षेत्र के द्वैताद्वैत को अपनाने से वृन्दावन बन जाता है। इस प्रकार प्रत्येक दर्शन भाव के जगत् में नूतन 'सौन्दर्य्य' को प्रगट करता

है। शांकर अद्वैत को अपनाने वाला का उल्लास और प्रकार का है, शुद्धाद्वैत को लेकर चलने वाले की मनोदशा भिन्न प्रकार की है। जब अष्टावक्रगीता का कवि कहता है कि मैं अनन्त सागर हूं और जगत् के असंख्य पदार्थ वे विचित्र लहरें हैं जो चित्त-वात के चलने पर मुझ में उत्पन्न हुई हैं तो वह वेदान्त के सिद्धान्त-पक्ष को स्पष्ट नहीं कर रहा, परन्तु यह बतला रहा है कि आत्म-दर्शन से किस प्रकार भाव-परिणति होती है। वह उस स्फीत आनन्द को वाणी दे रहा है जो लघु विराट् बन जाने पर अनुभव करता है। इसी प्रकार सूरदास की वाणी शुद्धाद्वैत में निहित भावात्मक 'मूल्यों'' का अनावरण कर के ही कृतकृत्य होती है।

परन्तु यह आवश्यक नहीं कि कवि एक ही दर्शन से भाव के द्राक्षा-रस को निकाले और उसका वितरण करे। यह आवश्यक नहीं कि कवि का व्यक्तित्व हिम के समान जड़ीभूत हो। वह उस पानी के समान तरल भी हो सकता है जिसे जिस भाजन में डाला जाय उसी के रूप को धारण कर लेता है। जिस प्रकार बाह्य जगत् के विविध रूप उस के गान में मुखर हो उठते हैं उसी प्रकार बौद्धिक जगत् के विविध रूपों अर्थात् दर्शनों का भी वह गायन कर सकता है। इस प्रकार के कवि की कविता वह मधु-कोष है जिस में दर्शन के नन्दन-वन के विविध कुसुमों का मधु संभृत है। परन्तु हमें यह न समझना चाहिए कि जिस कवि की अव्यभिचरित प्रज्ञा एक ही दर्शन के सौन्दर्य्य पर रीझी है उसका व्यक्तित्व जड़ हो गया है। वस्तुतः एक ही कवि यदि दो विरोधी दर्शनों—जैसे जड़वादी और अध्यात्मवादी—को अपनी कविताओं का विषय

बनाएगा तो हमें उस की प्रज्ञा-निष्ठता में सन्देह हो सकता है। ऐसे कवि और कविताएँ संभव तो हैं परन्तु यदि कोई कवि एक ही समय दो विपरीत दर्शनों को लेकर चलता है तो उस के काव्य का सौन्दर्य्य क्षुण्ण हो सकता है क्योंकि दार्शनिक कविता के सौन्दर्य्य का मुख्य उपादान सत्य है—वह सत्य जिस का कवि ने स्वयं साक्षात्कार किया हैं। ऊपर जिन विविध दर्शनों से मधु-संचय की बात कही गई है उस का अभिप्राय है वे दर्शन जो सनाभि हैं, जीवन और जगत् के सम्बन्ध में जिन के स्वर बिसंवादी नहीं। शुष्क दार्शनिक वृत्ति के प्राधान्य के कारण विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि वेदान्त की शाखाओं के पण्डित खण्डन मण्डन में प्रवृत्त हो सकते हैं परन्तु इस में सन्देह नहीं कि भावना की दृष्टि से ये सब एक ही सूत्र में प्रोत हैं और दार्शनिक कवि की कल्पना इन सब से भाव-निष्यन्द प्राप्त कर सकती है। कवि जैसा कि हम ने देखा है अपनी कल्पना के कारण बहुत सी भूमिकाएँ ग्रहण कर सकता है। कल्पना वह मायाशक्ति है जिस से वह वहुरूप बनता है (इन्द्रो मायाभि बहुरूप ईयते)। इसलिए कवि यदि एक विशिष्ट दार्शनिक धारा के साथ चिरकाल तक अपना तादात्म्य न रखे अथवा दूसरी दार्शनिक परंपराओं के "भावात्मक" मूल्यों की प्राप्ति की चेष्टा करे तो सैद्धान्तिक दृष्टि से इस में आपत्ति नहीं होनी चाहिये। परन्तु यह आवश्यक है कि इस भूमिका—परिवर्तन के पीछे बौद्धिक शैथिल्य न हो।

आधुनिक युग में दार्शनिक कविता के लिए परिस्थितियां विशेष अनुकूल नहीं। प्रज्ञा के उन उदात्त व्यापारों के प्रति जो अपने आप को धर्म, दर्शन और कला में मूर्त्त

करते हैं हम संशयालु हो गए हैं। परन्तु इस का यही अर्थ है कि हमारी चैतन्य-शक्ति खण्डित हो चुकी है, और अनुभव के संबन्ध में हमारा दृष्टिकोण स्वस्थ नहीं रहा। हमारे लिए निम्न कोटि की इच्छाओं, संघर्षों और सस्ती भावुकता से प्रेरित दिवा-स्वप्नों में अपने आप को अभिव्यक्त करने वाली वृत्तियां तो वास्तव हैं परन्तु धर्म और दर्शन द्वारा उठाए गए प्रश्नों का हल ढूढने की इच्छा चेतोविकार मात्र है। यह स्थिति शोचनीय है। हमें 'अनुभव' की व्यापकता को ध्यान में रखना चाहिए। केवल कायिक संवेदनाओं और मानस भावों तक ही मनुष्य का अनुभव सीमित नहीं। प्रज्ञान का क्षेत्र और उससे सम्बद्ध अनुभव भी उतने ही सत्य हैं जितने किसी और क्षेत्र के। इस देश की उच्चतम कविता में तो प्रत्यक्ष और परोक्ष, देह और आत्मा, इहलोक और परलोक के द्वन्द्व को मिटाने की चेष्टा की गई है। जैसा कि दर्शन नाम से ही प्रगट है यहां के दार्शनिक केवल तार्किक समाधान के पीछे नहीं दौड़ते थे। वे 'सत्य' को उसी प्रकार 'देखना' चाहते थे जैसे हम किसी पुरोवर्त्ती पेड़ अथवा दीवार को देखते हैं। इस प्रकार के दर्शन में प्रत्यक्ष परोक्ष का प्रतीक बन जाता है। अनात्म आत्मा का आवरण नहीं रहता उस को प्रगट करता है। इस देश की समृद्ध और उत्तम कला में और साहित्य में कोई वर्जनशीलता नहीं। यहां की चित्र-कारिता, भास्कर्य और कविता में दैहिक व्यापारों को हेय विकारों के रूप में नहीं लिया गया; इस आध्यात्मिक कहे जाने वाले देश के साहित्य में ऐन्द्रियता का प्रगल्भ स्वीकार है। अध्यात्म-भावना ऐन्द्रियता का तिरस्कार कर के नहीं उसे अपने में अन्वित कर के सिद्धि प्राप्त करती है।

क्या दार्शनिक कविता कविता के इतर प्रकारों से श्रेष्ठ है ? वस्तुतः दर्शन और कविता की उत्तमता के मानदण्ड भिन्न भिन्न होने चाहिएँ । यह कहना पर्याप्त नहीं कि दर्शन का लक्ष्य सत्य है और कविता का सौन्दर्य्य क्योंकि सत्य और सौन्दर्य्य बहुत व्यापक अर्थ रखते हैं । सत्य और सौन्दर्य्य एक दूसरे को निरस्त कर के स्वरूप की प्राप्ति नहीं करते । सत्य का अपना सौन्दर्य्य है और सौन्दर्य्य केवल कल्पना विलास, भावुकता का उच्छ्वास, अथवा नेत्रों का प्रसादन मात्र नहीं, इस का मूल सत्य में है। दर्शन से स्पष्टतः कोई संबन्ध न रखने वाली कविता भी किसी न किसी सत्य का वाहन होती है । कविता की उत्तमता तो अभिव्यक्ति की मार्मिकता में ही है । वेदान्त का निरूपण सिद्धान्त दृष्टि से कई प्रकार से हो सकता है। एक विशेष प्रतिपादन का खण्डन किया जा सकता है और उसे अपदस्थ किया जा सकता है । परन्तु वेदान्त के सत्य को हृदयंगम रूप में अभिव्यक्त करने वाली कविता का स्थान मनुष्य की भावना में चिरन्तन है । उसे अपदस्थ नहीं किया जा सकता। उस कविता के लिखने और उसे आत्मसात् करने में मनुष्य की समग्र मानस शक्ति व्यापृत होती है; सिद्धान्त के मण्डन और प्रतिपादन में केवल बुद्धि का प्रयोग होता है । साधारण दार्शनिक सत्य को ले कर चलने वाली कविता भी मार्मिक हो सकती है यदि उस सत्य ने कवि के भाव-जगत् में स्थान बना लिया है । अभिव्यक्ति में मार्मिकता तभी आ सकती है यदि विषय का शीलन करती हुई चेतना उस के साथ एकाकार हो गई है ।

काव्य को केवल मनोवेगों का और दर्शन को केवल विचारों का वाहन मानना अनुचित है । इस से काव्य और

दर्शन दोनों का स्वरूप विकृत होता है। जैसा कि हम ने पीछे देखा है प्रत्येक भाव के समक्ष कोई न कोई विषय होता ही है। यह आवश्यक नहीं कि यह विषय इन्द्रियगम्य हो। हिमाचल का भावन कर के साहित्य सृजन हो सकता है और जीवन के स्वरूप का भावन कर के भी। कहने का तात्पर्य यह है कि यह विषय प्रत्यक्ष भी हो सकता है और अप्रत्यक्ष भी। वस्तुतः साहित्य की शक्ति का रहस्य उस मनोदशा को जगाने में है जिस में विषय और तज्जनित भावना मिले रहते हैं। सौन्दर्य्य की प्रतीति इसी प्रकार की होती है।

यदि शुष्क, तर्कण-प्रसूत विचारों को ही दर्शन का क्षेत्र समझ लिया जाय तो साहित्य के साथ उस का समझौता कठिन है। इस प्रकार के मनोव्यापार बाह्य जगत् का नियन्त्रण तो कर सकते हैं, जड़ पदार्थों के सम्बन्धों का अनुसन्धान भी कर सकते हैं परन्तु ये मानव चेतना को अत्यन्त खण्डित रूप में ही हमारे सामने रखते हैं। परन्तु विचार का वह व्यापक रूप भी है जिस में वह भाव के स्पन्दन से सजीव होता है।

इस प्रकार के विचार मानव की निधि, उस की जीवन-यात्रा के सम्बल हैं। भाव और विचार हमारे मन में अलग अलग प्रकोष्ठों में नहीं रहते। शुद्ध भाव और शुद्ध विचार की अवस्था साधारणतया अप्राप्य है—साहित्य के आराम तो इन दोनों के संगम पर ही अस्तित्व में आते हैं। भाव और विचार की द्वाभा से ही श्रेष्ठ साहित्यकार की कृति उद्भासित होती है। वे वरेण्य क्षण जिन में हम परिप्रश्न के द्वारा जीवन, भाग्य, अभ्युदय, निःश्रेयस के स्वरूप को जानने की चेष्टा करते हैं अथवा नासदीय

सूक्त को प्रतिध्वनित करते हुए पूछते हैं कि यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई है और इस का लक्ष्य क्या है—ऐसे क्षणों में हमारी तर्कण-शक्ति ही व्यापृत नहीं होती। हमारी सारी चेतना ही उत्कण्ठ हो उठती है। इस मनोदशा से प्रसूत कविता की शक्ति असंदिग्ध है।

जैसा कि हम ने ऊपर कहा है सौन्दर्य्य को इन्द्रियों के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। बौद्धिक सौन्दर्य्य के भी दर्शन हो सकते हैं। जीवन और मानव के स्वरूप का अनुशीलन करने वाले उदात्त दर्शनों का अपना सौन्दर्य्य है। "दर्शन" शब्द बड़ा साभिप्राय है। दर्शन का उद्देश्य है सत्य को उसी प्रकार देखना अथवा दिखाना जैसे नेत्र रूपों को देखते हैं। दर्शन क्रिया की चरम परिणति अद्वैतानुभूति में है जिस में द्रष्टा और दृश्य के भेद का लोप हो जाता है। केवल तर्क से, बौद्धिक व्यायाम से यह स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती। इसी प्रकार साहित्य का मर्म केवल छन्दों के नाम-करण और भाषा के व्याकरण-सम्मत विश्लेषण से ही नहीं पाया जा सकता।

कविता में जिस भावनात्मक अनुभूति को वाणी दी गई है उस के साथ एकाकार होने से ही हम साहित्य के तत्त्व को अधिगत करते हैं। साहित्य के सत्य और दर्शन के परम सत्य को आत्मसात् करने वाली चेष्टाओं में पर्याप्त साम्य है। साहित्य को समझने का अर्थ है उस में आनन्द लेना। भक्ति सिद्धान्त का अध्ययन शास्त्रीय रीति से हो सकता है परन्तु जब यह तुलसी अथवा सूर के काव्य में अभिव्यक्ति प्राप्त करता है तो उसे आत्मसात् करने के लिए बौद्धिक प्रयत्न पर्याप्त नहीं। काव्य में भक्ति की सफल अभिव्यक्ति का अर्थ है कि हम उस अभिव्यक्ति में

रमण करने लगते हैं । यदि दोनों के लेखक समान रूप से समर्थ हों तो गद्य में अभिव्यक्त भावना में वह रसवत्ता नहीं आ सकती जो छन्दोबद्ध पद्य में होती है । परन्तु साहित्यिक गद्य भी हमारी भावना को उद्‌बुद्ध करता है। तार्किक गद्य के प्रति हमारी प्रतिक्रिया भावनात्मक नहीं होती।

साहित्य और दर्शन के घनिष्ठ सम्बन्ध को आधुनिक उपन्यास में समुचित रूप में देखा जा सकता है। वस्तुतः अधुनिक उपन्यासकार ने पुराने दार्शनिकों और धर्माचारियों को अपदस्थ कर दिया है और एक ऐसे धर्म का प्रवक्ता बन गया है जिस का आधार उन्नीसवीं शताब्दी का विज्ञान, बीसवीं का मनोविज्ञान, हवा में उड़ती हुई सामाजिक, राजनीतिक धारणाएँ और प्राकृत मानव की वासनाएँ और मूढग्राह हैं । आज कल का साधारण नवयुवक अपना जीवन दर्शन अकसर ऐसे उपन्यासों से ही ग्रहण करता है जिस में प्राकृत मानव को ही स्तवनीय और अनुकरणीय माना गया है । उपन्यासकार की कल्पना जिस जगत् का निर्माण करती है, जिन प्रसंगों का उद्भावन करती है, पात्रों के कर्मों और उन के परिणामों का जिस प्रकार विधान करती है—इन सब से उस की 'मूल्य-भावना' स्पष्ट हो जाती है। हमें पता चल जाता है कि किस प्रकार के मानव को उपन्यासकार आदर्श मानता है, उस की सत्कर्म और विकर्म की परिभाषा क्या है और उस के अनुसार जीवन में सफलता के क्या उपादान हैं । आधुनिक उपन्यास सर्वथा काल-बद्ध है—उस के लिए शाश्वतता विडंबनामात्र है । उस के लिए

मानव का अध:पतन अधिक रोचक है। मानव का ऊर्ध्वगमन, अपरा प्रकृति से परा प्रकति की ओर प्रगति, पापात्मा का सत् को ओर उन्मुख होना, मानस की अतिमानस में परिणति—ये सत्य उस के लिए दुर्भेद्य हैं। इस प्रवृत्ति के अपवाद भी मिल जाते हैं परन्तु इन की संख्या इतनी कम है कि वर्तमान युग के युवक मानस के निर्माण में उन की देन विशेष महत्त्व नहीं रखती।

हम कह सकते हैं कि जिन विषयों के संबन्ध में—जैसे धार्मिक दृष्टिकोण की समीचीनता, अध्यात्मवाद की यथार्थता—उपन्यासकार चुप रहता है उन्हें वह महत्त्वपूर्ण नहीं समझता। आधुनिक उपन्यास में मानव का वह रूप लुप्त हो गया है जिस में वह सनातन सत्यों का द्रष्टा है। हम मानव को ऐन्द्रिय संवेदनाओं में आपादमस्तक डूबा हुआ तो पाते हैं, उसे मनोवेगों के वात्याचक्र में पिसता हुआ देखते हैं, परन्तु इन्द्रियों और मन की नियामक उस प्रज्ञा की झलक नहीं देखते जो उस के पार्थिव और अतिपार्थिव रूपों की संयोजक है। इन उपन्यासकारों में ऐन्द्रिय-जगत् के निरीक्षण की शक्ति पर्याप्त है, मनोवेगों के जगत् में भी इन का प्रवेश है परन्तु इन्द्रियों और मन का जगत् प्राकृत जगत् है और इस जगत् में रमण करने वाला मानव प्राकृत मानव है। प्राकृत मानव का यथेष्ट चित्रण आधुनिक साहित्य में उपलब्ध होता है परन्तु "द्विज" के—उस मानव के जिस का दूसरा जन्म हुआ है—जो ऐन्द्रिय और मानस चेतना से अतीत अध्यात्म चेतना में प्रतिष्ठित हो चुका है—दर्शन यहाँ दुर्लभ हैं। विज्ञान और मनोविज्ञान ने जिस दार्शनिक विचारधारा को जन्म दिया है उस से

प्रसूत साहित्य मानव व्यक्तित्व के इस रूप को ग्रहण करने में असमर्थ है ।

यदि दर्शन तर्क के आधार पर वस्तुओं के स्वरूप और पारस्परिक सम्बन्ध का प्रतिपादन है तो साहित्य–विशेषतः कविता—से उस का अन्तर स्पष्ट है। किसी भी दर्शन का प्रतिपादन भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न भिन्न प्रकार से किया जा सकता है। परन्तु कविता और उस के भावार्थ में बिम्ब-प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध नहीं होता । कविता बहुत से तत्त्वों—भाव, विचार, लय आदि–का संग्रथन है और उस का भावार्थ उस की समग्रता का एक अंश है—यद्यपि यह अंश निःसन्देह सब से महत्त्वपूर्ण है। कविता के अर्थ को उद्देश्य-विधेयात्मक रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है परन्तु लय और विशिष्ट शब्दावलि के विशिष्ट विन्यास से अर्थ में जो समृद्धि आती है वह क्षीण हो जाती है। चेतना के नवीन रूपों का दर्शन भी साहित्य की अर्थवत्ता का अंश है। हम चेतना की ऐसी अवस्था को प्राप्त होते हैं जिस में मनोभावनाएँ और विचार संयुत हो जाते हैं, और एक दूसरे को समृद्ध करते हैं। बुद्धि और हृदय का यह परिणय भी 'अग्निसाक्षिक' है—चेतना की दीप्त शिखाओं के समक्ष होता है ।

दार्शनिक साहित्य से वह साहित्य अभिप्रेत नहीं जो सांख्य-योग, अथवा वेदान्त आदि दर्शनों का उपजीवी है । जो भी मनुष्य अपने विश्वासों और आस्थाओं और उन के विषयों के सम्बन्ध में विचार करता है दार्शनिक कहा जा सकता है। इस दृष्टि से हम सब विचारक हैं—प्रश्न यही है कि हम अपने विचारों को अपनी इच्छाओं और वासनाओं का वशवर्त्ती तो नहीं बना रहे—दूसरे शब्दों में

हम गंभीर और परिपक्व विचारक हैं या तथा-कथित यथार्थवादियों के समान उसे ही यथार्थ कहना चाहते हैं जो व्यवहार के संकुचित धरातल पर उपयोगी सिद्ध होता है। ऋग्वेद के कवि किसी मतवाद के प्रचारक नहीं। वे ऋषि थे—ऋषिर्दर्शनात्—द्रष्टा थे। आधुनिक युग में विज्ञान के प्रभाव के कारण बुद्धि का स्वरूप विकृत हो गया है—उस का काम यही रह गया है कि ऐन्द्रिय संवेदनाओं के क्षेत्र को ही वास्तव समझ कर उस में व्यवस्था लाने का प्रयत्न करे। ऋषियों की बुद्धि प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों में अकुतोभय हो कर विचरण करती थी। वैज्ञानिक बुद्धि के लिए भावलोक मुद्रित हो जाते हैं और व्यक्तित्व कुण्ठा से अभिशप्त हो जाता है। ऐसी अवस्था का प्रतिकार साहित्य से ही हो सकता है विशेषत: ऐसे साहित्य से जिस में बुद्धि और हृदय समन्वित हो चुके हैं।

साहित्य और विज्ञान

कविता और विज्ञान एक दूसरे के विरोधी समझे जाते हैं। विज्ञान की साधना और उन्नति पर आधुनिक युग को गर्व है। नये आविष्कारों के कारण मानव जगत् का रूपान्तर हो गया है। जिस प्रकार सफल राजनीतिज्ञ की सम्मतियां राजनीति के अतिरिक्त दूसरे क्षेत्रों में भी—कला, दर्शन, धर्म आदि के क्षेत्र में—आप्त वचन का रूप ग्रहण कर लेती है, उसी प्रकार विज्ञान भी अपने आविष्कारों की सफलता के कारण दूसरे क्षेत्रों को अधिकृत करना चाहता है। साधारण जनता की आस्था उसे प्राप्त है। साधारण जनता के लिए विज्ञान यथार्थ-वादी है। विज्ञान को भी अपनी यथार्थवादिता पर विश्वास है। कल्पना रुग्ण मन का विलास बन जाती है। वैज्ञानिक के अनुसार वही साहित्य संसेव्य है जिस में वस्तुओं और व्यापारों का यथातथ्य आकलन हो। कल्पना के द्वारा हम अपने राग-द्वेष और पूर्वग्रहों से वस्तु के स्वरूप को विकृत कर देते हैं। यथार्थवाद अयथार्थ समझी जाने वाली

वस्तुओं और व्यापारों के तिरस्कार से उत्पन्न होता है। सृष्टि में दैवी शक्तियों का दर्शन, आख्यायिकाओं में अतिप्राकृत प्राणियों का आना, धार्मिक चेतना को साकार करने वाले कृत्य, रीतियां, स्वर्ग की अप्सराएँ, प्रकृति के व्यापारों में मनोभावनाओं का सन्निवेश—ये सब कल्पना और मन के गर्ह्य विलास की प्रसूति हैं। कवि को यह अधिकार प्राप्त नहीं कि जनसाधारण के लिए दुर्बोध शैली, विचार सरणि अथवा भाव-धारा को अपना कर अपनी विलक्षणता का प्रदर्शन करे।

पहले हमें यह देखना है कि कविता के सम्बन्ध में विज्ञान की धारणा कहां तक ठीक है। क्या विज्ञान हमारे सामने अविकृत सत्य रखता है, और कविता सत्याभास अथवा कल्पना का अनर्गल विलास? यदि हम अपने अनुभव को उस की समग्रता में लें तो हम देखते हैं कि विज्ञान आंशिक रूप में ही उस का आकलन कर सकता है। पदार्थों में दो प्रकार के गुण हैं; वे जिन का ज्ञान वैज्ञानिक पद्धति द्वारा हो सकता है, और दूसरे वे जो इस पद्धति के लिए अगोचर हैं। वस्तुओं के भार, परिमाण आदि का ज्ञान तो विज्ञान अभ्रांत रूप से प्राप्त कर सकता है परन्तु उन के सौन्दर्य्य का नहीं। पदार्थों में ऐसे गुण भी हैं जो हमारी इन्द्रियों के लिए प्रत्यक्ष हैं परन्तु जो वैज्ञानिक उपकरणों के द्वारा ग्राह्य नहीं, जैसे उन का रंग, माधुर्य, गन्ध आदि। इसी प्रकार हम देखते हैं कि कविता का मूल्याङ्कन सूक्ष्म से सूक्ष्म वैज्ञानिक उपकरण भी नहीं कर सकता। वैज्ञानिक ज्ञान इस दृष्टि से पूर्ण और निर्भ्रान्त नहीं। वह भी एक प्रकार से प्रतीकात्मक (Symbolic) है क्योंकि आंशिक होने के कारण वह वस्तु

को उस की अविकल पूर्णता में ग्रहण नहीं करता; उस की ओर संकेत मात्र कर सकता है।

विज्ञान यथार्थ का ही अन्वेषक बनना चाहता है; उसे इस बात का गर्व है कि वह तथ्य से कभी च्युत नहीं होता परन्तु यथार्थ और तथ्य की परिभाषा क्या है—इस सम्बन्ध में वह दूसरों–कला, धर्म, दर्शन–की बात सुनने को तय्यार नहीं। हमारी व्यावहारिक बुद्धि वस्तुओं का जो मूल्य और स्वरूप निर्धारित करती है विज्ञान उस से साधारण-तया सहमत नहीं होता। जल का रूप प्यासे के लिए और है, प्रयोग-शाला में व्यापृत वैज्ञानिक के लिए और। यदि विज्ञान हमारी सामान्य व्यावहारिक बुद्धि, और धार्मिक अथवा कलात्मक चेतना का अनुगामी बनने के लिए तय्यार नहीं, तो उसे यह अधिकार नहीं कि दूसरों को अपना अनुगामी बनाने की चेष्टा करे।

बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क में आने से जिन अनुभू-तियों और संवेदों की प्राप्ति होती है उन को कई प्रकार से व्यवस्थित करते हैं। पागल मनुष्य चित्त-विप्लव के कारण उन्हें जो रूप देता है वह समाज को मान्य नहीं। व्यावहारिक बुद्धि अपनी एषणाओं और प्रवेगों के कारण उन्हें एक प्रकार से व्यवस्थित करती है, वैज्ञानिक बुद्धि इन मनोवेगों से मुक्त हो कर दूसरी प्रकार से। इसी प्रकार कविता, धर्म और दर्शन भी इन अस्त-व्यस्त अनुभूति-खण्डों को भिन्न भिन्न प्रकार से रूपायित करते हैं। इन में कौन सी पद्धति श्रेष्ठ है इस का निर्णय करने का अधिकार विज्ञान को नहीं। जिस प्रकार आधुनिक सभ्यता वैज्ञानिक बुद्धि में मानव के अभ्युदय को देखती है उसी प्रकार विश्व के इतिहास में दूसरी सभ्यताएँ और

संस्कृतियां हुई हैं जिन्हों ने कलात्मक अथवा धार्मिक चेतना के विकास में ही मानवीय उत्कर्ष की परा कोटि को देखा। ग्रीक कौर भारतीय संस्कृतियों इस प्रकार की थीं।

क्या तथ्य का क्षेत्र प्रत्यक्ष तक सीमित किया जा सकता है? प्रत्यक्ष अर्थात् इन्द्रिय-गोचर गुणों की समष्टि। वस्तुत:—जैसा कि हम ने देखा है—प्रत्यक्ष के भी सारे क्षेत्र में विज्ञान का विचरण नहीं हो सकता। एक दृष्टि से हमारे भाव भी इन्द्रिय-गोचर ही हैं क्योंकि मन को एक इन्द्रिय (अक्ष) माना गया है। परन्तु मानस-प्रत्यक्ष विज्ञान के उपकरणों से ग्राह्य नहीं। इसी प्रकार सब प्रकार के मनोवेगों से मुक्त हो कर प्राप्त किया गया वैज्ञानिक ज्ञान प्राकृतिक परिवेश पर नियन्त्रण करने के लिए आवश्यक है परन्तु पारस्परिक आदान-प्रदान के क्षेत्र में इस प्रकार की निर्वैयक्तिता प्रशस्त नहीं। फिर यह प्रश्न भी है: क्या विज्ञान के लिए सर्वथा निर्वैयक्तिक हो जाना सम्भव है? सब प्रकार के ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय दोनों की सत्ता आवश्यक है। इस दृष्टि से काव्य-गत ज्ञान यदि विषयी अथवा ज्ञाता पर निर्भर है तो वैज्ञानिक की उपलब्धि भी उस की अपनी सत्ता, क्रिया-पद्धति और पूर्वग्रहों पर आश्रित है। वैज्ञानिक प्रक्रिया में भी पूर्वग्रह की विद्यमानता को भुला नहीं देना चाहिये। ये पूर्वग्रह हैं (i) इन्द्रिय-गोचर जगत् ही वास्तव है (ii) भाव की उपस्थिति से हमारी ग्रहण-शक्ति में विक्रिया उत्पन्न हो जाती है (iii) वैज्ञानिक पद्धति द्वारा अग्राह्य गुण मिथ्या, गौण अथवा कल्पना-प्रसूत हैं।

वस्तुत: कवि यदि जगत् को अपने मनोवेगों के माध्यम से देखता है तो वैज्ञानिक का ज्ञान भी निरपेक्ष और

अव्यवहित नहीं। वैज्ञानिक भी बृहत् और सूक्ष्म उपकरणों के द्वारा अपनी सीमित ग्राहक-शक्ति को बढ़ाने की चेष्टा करता है। इन साधनों के प्रयोग से वस्तुओं के आकार, परिमाण में अद्भुत परिवर्तन हो जाता है। अणोरणीयान् कीटाणु जो साधारण अवस्था में अलक्ष्य है, देखा जा सकता है, दूरस्थ तारक-लोक अपने रहस्यों को अनावृत कर देते हैं। ज्ञाता में परिवर्तन होने से विज्ञान के क्षेत्र में भी ज्ञेय में परिवर्तन हो जाता है। इसलिए यह कहने से कि मनोवेगों की त्वरा अथवा भाव की शबलता के कारण कवि को जगत् विलक्षण प्रतीत होता है कवि का 'ज्ञेय' मिथ्या अथवा 'कल्पित' नहीं हो जाता। यदि साधारण अवस्था से भिन्न कायिक अथवा मानसिक स्थिति द्वारा प्राप्त ज्ञान मिथ्या है तो हमें यह याद रखना चाहिए कि जहाँ कवि अपनी आन्तर वृत्तियों के कारण जन-साधारण से अलग हो जाता है वहाँ अपने यन्त्रों से सम्पन्न वैज्ञानिक भी हमारी सामान्य दशा का प्रतिनिधित्व नहीं करता।

यह कहना ठीक नहीं कि वस्तुतः तारक बड़े हैं, हमें छोटे "प्रतीत" होते है : हमें केवल यह कहने का अधिकार है कि अमुक अवस्था में (दूरवीक्षण यन्त्र -Telescope-से रहित होने पर) छोटे और उस से भिन्न (इस यन्त्र से सज्जित होने पर) अवस्था में वे बड़े प्रतीत होते है।

वस्तुओं के भार और परिमाण के समान सौन्दर्य्य की प्रतीति भी विषय और विषयी दोनों की सत्ता पर निर्भर हैं। इस लिए कुच्छ गुणों को विषयि-गत और दूसरों को विषय-गत कहना निराधार हैं। यह ठीक है कि इन्द्रधनुष के सौन्दर्य्य पर सभी मुग्ध नहीं होते परन्तु यह भी ठीक

है कि वैज्ञानिक के समान सभी उस के संघटक तत्त्वों का ज्ञान सामान्य अवस्था में प्राप्त नहीं कर सकते। इन्द्रधनुष में रंग हैं परन्तु उन्हें देखने के लिए हम में ईक्षण-शक्ति होनी चाहिये। इन्द्रधनुष में उसी प्रकार सौन्दर्य्य भी है परन्तु उस की प्रतीति के लिए हमारे पास विशिष्ट प्रकार के संस्कारों का होना अपेक्षित है। जिस के पास देखने की शक्ति नहीं उस के लिए 'रंग' शब्द मात्र है आन्तरिक अनुभूति नहीं; जिस के पास भावन-शक्ति नहीं उसके लिए कविता जड़ अक्षरों का संघात मात्र है, मानस में ओजायित भाव-प्रवाह अथवा साक्षात्कृत भाव-सत्य नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि कला और कविता में हम आत्म-गत तथ्यों और भावनाओं से बाहिर नहीं जा सकते तो विज्ञान और व्यवहार-क्षेत्र की स्थिति भी कविता के समान ही शोचनीय है। या तो दोनों विषयि-गत हैं या दोनों विषय-गत (objective)। यह ठीक है कि मूलतः विज्ञान से हमारा अभिप्राय उस पद्धति से है जो तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष की ओर अग्रसर होती है और इस परिभाषा के अनुसार हम अनुभूतियों अथवा तथ्यों के किसी भी निकाय को अध्ययन का विषय बना सकते हैं। परन्तु इस पद्धति को अपनाने से इस की सीमाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। वैज्ञानिक पद्धति से भाव-जगत् का अध्ययन करने से इस जगत् की स्पन्दनशीलता के स्थान पर सिद्धान्तों और तथ्यों की जड़ता ही हमारे हाथ आयगी। प्रेम, अथवा उत्साह आदि का बौद्धिक विश्लेषण सम्भव है परन्तु इन का यथार्थ ज्ञान तो इन में तन्मय होने पर—इन के वेग से रक्त के स्फूर्त्त होने पर—ही प्राप्त होगा। इस प्रकार कविता, कला और धार्मिक-

आध्यात्मिक अनुभूति के क्षेत्र विज्ञान की पहुँच से बाहिर चले जाते हैं। हम स्नेह से हृदय को भर कर ही प्रणयी जन को मनोदशा का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। कृष्णरति से भावित चित्त ही सूर और मीरा की मनोव्यथा की थाह पा सकता है। विज्ञान का क्षेत्र परिमेय और संख्येय तथ्यों का क्षेत्र है। मानव के सम्बन्ध में सब तथ्यों को संचित कर लेने पर भी हम उस के व्यक्तित्व को विश्लेषण का विषय नहीं बना सकते क्योंकि तथ्यों का संकलन जड़ पदार्थों की उपयोगिता के सम्बन्ध में सूचना तो दे सकता है परन्तु जीवन के स्वरूप को अधिगत नहीं कर सकता।

मानव व्यक्तित्व पर विचार करने से पता चलता है कि उस में भी 'परिमेय' और 'अपरिमेय' गुण संस्यूत हैं। वस्तुतः हम शरीर और मन की विभाजक रेखा की ओर निर्देश नहीं कर सकते। "शरीर-मन" एक समग्र और अविकल व्यापार-सन्तति है जिसे वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेपण करने के लिए हम 'शरीर' और 'मन' अथवा 'कायिक गुण' और 'मानस गुण' की संज्ञाएं देकर विभक्त कर,देते हैं। दोनों शरीर और मन इस इकाई के आंशिक रूप हैं। दैनिक व्यवहार में जिस मानव व्यक्तित्व का हमें ज्ञान होता है वह चेतना के धर्मों से भी उसी प्रकार संपन्न है जिस प्रकार कायिक धर्मो से। हम यह नहीं कह सकते कि मनुष्य जब खाता, पीता और हंसता है तो वास्तव है परन्तु जब कविता करता है अथवा अपनी मनीषा और साधना के बाल पर सत्ता के दुर्भेद्य आवरण को हटाना चाहता है तो कल्पना-विलासी बन जाता है। यह सत्य है कि कमल कीचड़ से निकलता है परन्तु यह भी सत्य है कि वह सूर्य्य का उपासक है। मनुष्य कायिक विकारों से

आर्त्त भी होता है और उदात्त भावों से प्रसाद और निष्ठा को भी प्राप्त करता है। 'मुक्ति' और 'भुक्ति' दोनों उस के धर्म अथवा 'व्यापार' हैं। इसलिए जिस पद्धति से मनुष्य का विशकलन अथवा उस की समग्रता का खण्डन होता है वह पूर्णतया 'वैज्ञानिक" नहीं हो सकती। विज्ञान मनुष्य के उस रूप को तो पहचानता है जब वह किसी शारीरिक विकृति से पीड़ित होता है परन्तु जब उस की चेतना साम-गायन में अथवा भाव से तरल या ऊर्जस्वित काव्य में अपने आप को प्रगट करती है तो विज्ञान के लिए समस्या बन जाती हैं। अतः विज्ञान में मानव व्यक्तित्व खण्डित हो जाता है। हम भूल जाते हैं यदि रोग मानव-जगत् का अनुभूत सत्य है तो योग की स्थिति भी वैसी ही है। यदि भौतिक जगत् का व्यवस्थित ज्ञान सम्भव और अपेक्षित है तो भाव-जगत् की व्यवस्था और अनुसन्धान भी आवश्यक हैं।

वैज्ञानिक का जगत् हमारे लिए पराया रहता है क्योंकि उस में व्यक्ति की अवहेलना है। भावों के द्वारा ही हम वस्तुओं को अपने निकट ले आते हैं। जिस प्रकार सूर्य्य की रश्मियों से कृष्णकाय पर्वत नवीन आभा धारण कर लेता है, अथवा चाँदनी से साधारण दृश्य एक विलक्षण मोहन-शक्ति से संपन्न हो जाता है उसी प्रकार जड़ उपादानों से निर्मित पदार्थ हमारे भावों से एक नूतन जीवन ग्रहण कर लेते हैं। जिस स्थान के साथ हमारे जीवन की मधुर स्मृतियां संबद्ध है उस का मूल्य हमारे लिए और है वैज्ञानिक और भूगोलशास्त्री के लिए और। भाव हमारे

व्यक्तित्व के सब से प्रभविष्णु उपादान हैं। भाव बौद्धिकता के विरोधी नहीं; वे हमारी सहजात वृत्तियों से भी खाद्य ग्रहण करते हैं और बौद्धिक जीवन से भी। परन्तु भाव-जगत् अपरीक्ष्य है। जहां विज्ञान के नाम पर शिक्षण का प्रयास किया जाता है वहां भावों को समुचित आलंबन प्राप्त नहीं होते। साधारणतया हमारे भावों के आलंबन हमारी सहजवृत्तियों के द्वारा—जिन्हें साधित करने की चेष्टा नहीं की गई—निश्चित होते हैं। परन्तु कला, दर्शन, धर्म जो मानव मूल्यों के पुरोधा हैं भावों के विनेता बन सकते हैं। विज्ञान की दृष्टि से गणित और भौतिक विज्ञान से संबद्ध मानस व्यापार तो यथार्थ और श्रद्धेय हैं, दार्शनिक अथवा कलात्मक चेतना के व्यापार नहीं। परन्तु दोनों मानस व्यापार हैं। विज्ञान के लिए शारीरिक रोग का समझना आसान है नैतिक शिथिलता अथवा विकृति का निदान और समाधान कठिन। इस प्रकार मानव चेतना की अभिव्यक्ति के उदात्त धरातल विज्ञान के लिए अप्राप्य हैं। इस उदात्त धरातल पर पहुंच कर मानव अपनी चेतना के पूर्ण विकास को प्राप्त करता है। जिस प्रकार किसी पशु के स्वरूप को जानने के लिए उसके विकसित रूप को ही देखना चाहिये जब उसके गुण और जीवन-व्यापार अपने पूरे प्रकर्ष पर होते हैं, उसी प्रकार मनुष्य को समझने के लिए उस की मनः शक्ति के सर्वाङ्गीण विकास—कलात्मक, बौद्धिक, धार्मिक व्यापारों की अव्याहत निष्पत्ति—की अवस्था को ही देखना ठीक है। परन्तु जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है मानव व्यक्तित्व की विज्ञान में अवहेलना है। किसी कलात्मक कृति को समझने के लिए अथवा धार्मिक कृत्य के मर्म को

अधिगत करने के लिए हमें अपनी चेतना में परिवर्तन लाना पड़ता है, भावना को दिशान्तर में मोड़ना पड़ता है, सारे व्यक्तित्व को नई प्रतिष्ठा देनी पड़ती है परन्तु वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में सारे व्यक्तित्व की व्यापृति संभव नहीं। इसीलिए विज्ञान, गणित आदि तो विद्यालयों में समुचित रीति से पढ़ाये जा सकते हैं, नैतिक अथवा कलात्मक चेतना के विकास के लिए अध्यापक के लेक्चर सुन लेना पर्याप्त नहीं। वस्तुतः विज्ञान सत्य, शिव और सुन्दर की त्रिमूर्त्ति को खण्डित कर सत्य की प्रतिमा को उपासना के लिए अलग कर लेता है; फिर उसे भी तोड़ कर—भाव-सत्य का जो कला में मूर्त्त होता है तिरस्कार करके—अपनी साधना में प्रवृत्त होता है।

विज्ञान के लिए जगत् एक यन्त्र है, कारण-कार्य्य की परंपरा है। वैज्ञानिक व्यापार की सफल प्रवृत्ति के लिए इस सिद्धान्त की स्वीकृति अनिवार्य है। शरीर, प्राण और मन यान्त्रिक व्यापारों के आवर्तनशील समुच्चय बन जाते हैं। वस्तुओं के स्वरूप की व्याख्या के लिए उनके उद्गम का अनुसन्धान किया जाता है, परिणति का अध्ययन नहीं। कार्य्य के सब उपादानों को कारण में ही खोज निकालने की चेष्टा की जाती है। कारण-कार्य्य की शृङ्खला का इस रीति से अनुसन्धान, आधुनिक आविष्कारों के मूल में है। विज्ञान का समादर इन आविष्कारों के ही कारण है। इनकी उपयोगिता के कारण विज्ञान की वास्तविकता हमारी लिए असंदिग्ध हो गई है। परन्तु उपयोगिता को सत्य और शिव का मानदण्ड नहीं बनाया जा सकता। हिटलर ने जिन साधनों का अपने उद्देश्यों की सिद्धि के लिए प्रयोग किया वे कुच्छ समय के लिए उपयोगी सिद्ध

हुए। किसी वस्तु की उपयोगिता हमारे सामने यह प्रश्न रखती है: किस ध्येय अथवा लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह उपयोगी है। लक्ष्य के स्वरूप को लेकर उपयोगिता को प्रशस्त अथवा अप्रशस्त माना जा सकता है। उपयोगिता तो कविता और दर्शन की भी असंदिग्ध है। विज्ञान के आविष्कारों की कृतकृत्यता इसी में है कि कुच्छ काम्य अनुभूतियों को हमारे लिए सुलभ बना देते हैं। कविता भी हमारे लिए विशिष्ट प्रकार की अनुभूतियों को रसनीय बनाती है। यदि विज्ञान की सत्यता इस में है कि यह ठोस परिणाम दिखाता है तो—कविता दूसरी दिशा में अपनी सत्ता और उपयोगिता को सिद्ध करती है।

वस्तुत: हमारी सभी क्रियाओं का लक्ष्य मानव का कल्याण होना चाहिये। यह लक्ष्य मूर्धन्य है; विद्याओं और व्यापारों की उपयोगिता का निर्णायक यह लक्ष्य ही है। जो उपयोगी है वह स्वत: गौण हो जाता है;-जिस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह उपयोगी है उसका स्थान अग्रिम है। आधुनिक आविष्कारों को देख कर यह कहने का साहस कोई नहीं कर सकता कि मानव कल्याण के लिए ही इनकी आवश्यकता पड़ी। अणु और उद्रजन बम किस कल्याण के वाहक हैं? यह ठीक है कि सब प्रकार की कविता मानव के लिए कल्याणकर सिद्ध नहीं होती। परन्तु कोई भी कलाकार और साहित्य साधक जान बूझ कर अशिव को निमन्त्रण नहीं देता। जिस कला अथवा कविता से अशिव का उत्तेजन होता है उस का भो सृजन करने वाला उस में सत्य और शिव की ही अभिव्यक्ति देखता है। जिस प्रकार कोई व्यसनी अपनी मूल्य-भावना के विपर्यास के कारण दु:ख में ही सुख देखता है—दु:ख की प्राप्ति के लिए ही व्यसन में

आसक्त नहीं होता परन्तु इसलिए कि उसे वहां सुख के दर्शन होते हैं—इसी प्रकार असत्साहित्य का स्रष्टा असत् में सत्य और सुन्दर के दर्शन करता है। प्रत्येक कविता कवि की मूल्य-भावना को मुखर करती है—'मेरे लिए अमुक पदार्थ, दृश्य, व्यापार मर्मस्पर्शी है, मनोग्राही है इसीलिए इसे लेकर मैं गा उठा हूं।' कविता में इस प्रकार अनिवार्यतः मूल्यों की स्वीकृति—कुच्छ अनुभवों का ग्रहण, उन के विपरीत गुणों का तिरस्कार—होता है। कहने का अभिप्राय यह नहीं कि वैज्ञानिक में मूल्य—भावना नहीं होती। विज्ञान तो कहता ही है कि मैं सत्य का अनुसन्धाता हूं परन्तु जैसा कि हमने ऊपर देखा है शिव और सुन्दर का आकलन विज्ञान की शक्ति से बाहिर है। उस के लिए जो प्रत्यक्ष है वही ग्रहणीय, है, अवबेय है। विज्ञान के लिए—वैज्ञानिक पद्धति से अनुशीलन के लिए—इन्द्रधनुष की भी सत्ता वैसी ही है जैसी कि एक गन्दी नाली की। वैज्ञानिक का काम तथ्यों का संकलन करना और विवरण देना है; वैज्ञानिक के रूप में उसे यह कहने का अधिकार नहीं कि अमुक वस्तु अथवा व्यापार सुन्दर अथवा असुन्दर, इष्ट अथवा अनिष्ट है। जब वह ऐसा करता है तो वैज्ञानिक नहीं रहता। "मूल्यों" का संसार विज्ञान के लिए दुरवगाह्य है। 'मूल्य' से अभिप्राय है वे साध्य जिन के प्रति मानव प्रगति करना चाहता है। साहित्य, कला, धर्म और दर्शन का संसार 'मूल्यों' का संसार है। हम इन्हें कल्पना—विलास अथवा भ्रान्तियों का समुदाय तो कह सकते हैं परन्तु हमें इस तथ्य को स्वीकार करना होगा कि विज्ञान को इन के सत्यासत्य का निर्णायक नहीं बनाया जा सकता। विज्ञान का क्षेत्र साधनों का क्षेत्र है परन्तु

साधनों के निरवधिक संचय से साध्य का प्रश्न हल नहीं हो जाता। मनुष्य इन साधनों से क्या करेगा यह उस की भावनाओं पर निर्भर है। वह जिसे शिव और सुन्दर समझेगा उस की प्राप्ति, अनुशीलन, अथवा आस्वादन के लिए ही साधनों का प्रयोग करेगा। साधनों अथवा लक्ष्यों की स्थापना जिस चेतना का कार्य्य है उस का सम्मार्जन और परिष्कार कविता और कला के द्वारा ही सम्भव है क्योंकि उच्च कोटि की कविता में हमारी समस्त वृत्तियां शिव और सुन्दर के आधार पर ही संकलित और व्यवस्थित हैं।

यह सत्य है कि कविता को तोलने के लिए विज्ञान के पास कोई मानतुला नहीं यद्यपि जिस काग़ज़ पर और जिस स्याही से वह कविता लिखी गई है उस पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जा सकता है। हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि विज्ञान की सत्यता को जानने के मानदण्ड और हैं और कविता के और। साहित्य में बाह्य जगत के प्रत्यक्ष और अनुमेय जड़ तथ्य हमारी भावात्मक चेतना के साथ मिल कर एक विलक्षण अनुभूति को जन्म देते हैं जिस का विश्लेषण वैज्ञानिक पद्धति से नहीं हो सकता। बाह्य जगत् के निरन्तर प्रवाहशील व्यापारों की यमुना और हमारे भावों की गंगा के संगम पर कविता और कला के तीर्थ सत्ता में आते हैं। इन दो धाराओं का मिलन सनातन है। इसी लिए कविता कभी पुरानी नहीं होती। न्यूटन का विज्ञान आज अपदस्थ हो गया है परन्तु विश्व साहित्य की वे वरेण्य कृतियां जो उदात्त आत्माओं और बाह्य जगती के मिलन की स्मारक हैं अमर हैं। उपनिषद्, मेघदूत,

सूरसागर कभी पुराने नहीं हो सकते। क्योंकि उन का सत्य मानव चेतना का सत्य है—उस चेतना का जिस को संकुचित उपयोगिता के आधार पर विकलांग नहीं किया गया परन्तु जिस में भाव, विचार और ऐन्द्रिय ज्ञान समंजस हो गए हैं।

वैज्ञानिक अपने पूर्ववर्त्ती वैज्ञानिकों के परिश्रम और तज्जन्य निष्कर्षों को दायाद्य रूप में प्राप्त करता है। वह इन पुरोगन्ता वैज्ञानिकों से इसलिए अधिक लम्बा प्रतीत होता है क्योंकि वह उनके कन्धों पर खड़ा हो सकता है। परन्तु कलाकार को ऐसी कोई सुविधा प्राप्त नहीं। उस की कृतियों में मूर्त्त होने वाली भावना जब तक उसकी चेतना की नैसर्गिक परिणति के रूप में प्रगट नहीं होती वह साहित्य की कोटि को प्राप्त नही होती। इससे यही पता चलता है कि कविता का संबन्ध मानव व्यक्तित्व के साथ घनिष्ठतर है। जिस प्रकार भावी वैज्ञानिक के लिए अपने क्षेत्र की अर्जित सम्पत्ति—विज्ञान की परंपरा—को आत्मासात् करना आवश्यक है साहित्यकार की सृजनात्मक प्रतिभा के उन्मेष के लिए, पूर्ववर्ती साहित्य का अनुशीलन उतना आवश्यक नहीं।

परन्तु भावना के बिना विज्ञान की उद्देश्य-सिद्धि भी असंभव है। बड़े वैज्ञानिक केवल विकलन और संकलन में ही निपुण नहीं होते; उनकी महत्ता का आधार तो वह कल्पना शक्ति है जो उन्हें नवीन संभावनाओं की सूचना देती है। इन्हीं सूचनाओं के आधार पर वे अपनी प्रयोग-शालाओं में बैठ कर अणु का हृद् भेदन कर सके और विश्व की भौतिक जटिलताओं का व्याख्यान कर सके।

क्या विज्ञान और साहित्य का विरोध शाश्वतिक है? क्या उन को कोई मिलन-भूमि नहीं? यदि विज्ञान हमें

वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान देता है और साहित्य में हम यथार्थ से पलायन कर के कल्पना के आश्रयी बनते हैं तो यह स्पष्ट है कि उन के विरोध का कोई समाधान नहीं। साधारण कोटि का वैज्ञानिक कविता में कल्पना का जृंभण मात्र देख सकता है परन्तु थोड़े से विचार से हमें पता चलता है कि दोनों में इस प्रकार का स्पष्ट विभाजन संभव नहीं। वस्तुतः व्यवहार–जगत् की अनुभूतियों के समान विज्ञान और साहित्य भी परिवेश के प्रति प्रतिक्रिया के भिन्न भिन्न प्रकार हैं। यदि कामायनी जैसा काव्य अपनी शैली, भाव और विचार-धारा के कारण व्यावहारिक धरातल के अनुभवों से दूर है तो विज्ञान की जटिल पद्धति भी लोक-बुद्धि से दूर है। विज्ञान की उपादेयता असंदिग्ध हैं परन्तु साहित्य जिन अनुभूतियों को हमारे लिए संवेद्य बनाता है उन के मूल्य के प्रति हमें संशयालु नहीं होना चाहिये।-ब्रॉड का विचार है, कि अन्ततोगत्वा सर्वाधिक मूल्य-संपन्न पदार्थ 'मनोदशाएं' ही हैं। हम किसी स्थूल पदार्थ को नहीं चाहते परन्तु उस मनोदशा को चाहते हैं जो उस पदार्थ की उपलब्धि हमारे लिए सुलभ कर देती है। यह मत सर्वथा ठीक नहीं परन्तु फिर भी मनोदशाएँ तिरस्करणीय नहीं। इस दृष्टि से साहित्य यदि महान आत्माओं की अनुभूतियों को हमारी चेतना में संक्रमित करता है तो उस की उपादेयता भी विज्ञान के समान असंदिग्ध होनी चाहिये। ऐसा साहित्य भी जिस में स्थूल, वस्तु-परक यथार्थवाद की गन्ध भी नहीं—जिसे हमें शुद्ध कल्पना-जन्य मानते हैं—एक बात में विज्ञान का सजातीय है। विज्ञान के electrons आदि इन्द्रिय-ज्ञान द्वारा प्राप्त पदार्थ नहीं। एक विशिष्ट जटिल पद्धति उन

के स्वरूप को प्रगट करती है और जो उस पद्धति से अनभिज्ञ है उस के लिए electron की सत्ता श्रद्धा-जन्य ही है । जिस प्रकार अधिकारी—विशिष्ट योग्यता-संपन्न व्यक्ति—के लिए विज्ञान का electron सार्थक तत्त्व हैं उसी प्रकार विशिष्ट योग्यता-संपन्न भावक के लिए कल्पना-जन्य कविता पलायन मात्र नहीं। वह मानव मन को अनावृत करती हैं।

साहित्य की तरह विज्ञान भी सृजनात्मक है । सृजनात्मक का अभिप्राय है कि मानव चेतना के व्यापार के बिना विज्ञान का सत्य प्राप्त नहीं हो सकता। वैज्ञानिक पदार्थ (पौधा, जल आदि) वास्तव भौतिक पदार्थ की प्रतिकृति नहीं हो सकता, क्योंकि जैसा कि हम ने देखा है पदार्थ की गुण-समष्टि में से विज्ञान केवल उन्हें गुणों का आकलन कर सकता है जो परिमेय अथवा संख्येय हैं । फूल की पाँखुरी के सौन्दर्य्य का ग्रहण विज्ञान नहीं कर सकता यद्यपि सौन्दर्य्य का ज्ञान भी संख्या के ज्ञान के समान विषय और विषयी के मिलन से ही होता है। विज्ञान के क्षेत्र में भी केवल बौद्धिक प्रक्रिया से काम नहीं चलता । यहां भी प्रातिभ ज्ञान की सहजानुभूति की आवश्यकता है और इस ओर वैज्ञानिकों ने बार बार निर्देश किया है । कला के समान विज्ञान के मूल भूत तत्वों का अविष्करण इस प्रातिभ ज्ञान की अपेक्षा रखता है जो विश्लेषण-परक बुद्धि का निराकर्ता नहीं, पूरक है। तथ्यों के संकलन को लेकर ऊहापोह करने वाली तर्कपरक बुद्धि खण्डन मण्डन तो कर सकती है परन्तु तथ्यों को सूत्रित करने वाले मूलगत सत्य का आविष्करण उस सहज ज्ञान से ही होता है जो चेतना की सृजनात्मक शक्ति है। इस प्रातिभ ज्ञान में

साहित्य मानव चेतना के दो भिन्न व्यापार हैं। एक के सत्य अथवा प्रभविष्णुता का ज्ञान दूसरे की पद्धति से नहीं हो सकता।

वैज्ञानिक रीति से साहित्य के अध्ययन का क्या तात्पर्य है? वस्तुतः आज विज्ञान के आविष्कारों की चकाचौंध से प्रभावित होकर साहित्यकार और साहित्य समालोचक नतमस्तक हो गए हैं। साहित्य का मर्म वैज्ञानिक तथ्य की तरह प्राप्य और परीक्ष्य नहीं। वैज्ञानिक किसी तथ्य अथवा व्यापार को समझने के लिए उस के कारणों का अनुसन्धान करता है और भौतिक जगत् में इस पद्धति का औचित्य असंदिग्ध है परन्तु साहित्यकार की प्रतिभा का रहस्य सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यापारों के समझ लेने से ही स्पष्ट नहीं हो जाता। भावना के स्वरूप पर विचार करते हुए हम ने देखा है कि किस प्रकार इस में अनासक्ति का योग रहता है। साहित्यकार की अनासक्ति वैज्ञानिक की अनासक्ति से अधिक व्यापक होती है क्योंकि साहित्यकार मानव मनोवेगों के क्षेत्र में विचरण करता हुआ भी उन से पृथक् रहता है। उसकी मूल्य-भावना अधिक व्यापक और जटिल सत्यों में तारतम्य स्थापित करती है। यदि वस्तु-तत्त्व के अन्तर्गत केवल जड़-तथ्य ही नहीं, मानव की मूल्य-भावना भी है तो साहित्य की वास्तविकता विज्ञान की वास्तविकता से उच्चतर कोटि की है और विज्ञान साहित्य का समीक्षक नहीं बन सकता। तथा-कथित वैज्ञानिक समालोचक समझता है कि विज्ञान के तथ्यों के समान साहित्यिक सत्य भी मन में यथावत् प्रतिबिम्बित हो जाते हैं और उन की इसी रूप में आलोचना की जाती है। परन्तु साहित्यिक सत्य कविता

के शब्दार्थ अथवा भावार्थ का ज्ञान ही नहीं। साहित्य में सत्य की भावनात्मक अनुभूति होती है। वैज्ञानिक ढंग से साहित्यिक कृति का पूर्ण विश्लेषण कर लेने से ही यह भावनात्मक अनुभूति प्राप्त नहीं हो जाती। यह समग्र मानव चेतना का व्यापार है, केवल गणनात्मक और विश्लेषणात्मक बुद्धि का नहीं। केवल परिश्रम से और बाह्य व्यापारों के निरीक्षण से कोई भी कवि अथवा समालोचक नहीं बन सकता। समालोचक बनने का अधिकार उसको नहीं जो यह दावा करता है कि मेरा दृष्टिकोण वैज्ञानिक है। हमें तो यह देखना है कि समालोचक समालोच्य कृति के सत्य की भावनात्मक अनुभूति प्राप्त कर सका है या नहीं, वह साहित्यकार के भावना-जन्य संसार में प्रवेश कर सका है या नहीं, उस ने चेतना के नूतन स्पन्दन को प्राप्त किया है या नहीं, अर्थात् वह साहित्यकार की अनुभूति के साथ एकरस हो सका है अथवा नहीं। जिस समालोचक के पास तन्मयीभवन की यह क्षमता नहीं वह वैज्ञानिक रीति से सामाजिक और आर्थिक तथ्यों का संकलन करके और शीर्षकों और उपशीर्षकों के लेबल तय्यार कर के ही साहित्य का समीक्षक नहीं बन जाता।

साहित्य का क्षेत्र विज्ञान के क्षेत्र से अधिक समृद्ध है। विज्ञान के लिए मनुष्य की चेतना के वे रूप दुरासद हैं जहां वह स्रष्टा है, सौन्दर्य्य का भावयिता और गायक है। मनुष्य की भावना और उसकी प्रसूति—साहित्य—अपनी सत्ता में उतने ही सत्य हैं जितने कि पदार्थों के बाह्य रूप और धर्म। परन्तु विज्ञान के पास इन भावना लोकों को देखने के लिए कोई दूरबीन नहीं। वैज्ञानिक

आस्था के प्रतिष्ठित होने का अर्थ है हम विप्लव में रुद्र के अट्टहास को नहीं सुन सकते, तरङ्गायित जल में अप्सराओं की अंग-भंगियाँ नहीं देख सकते, उमड़ती घटाओं में इन्द्र के अभियान का अवलोकन नहीं कर सकते, जल, पर्वत अन्तरिक्ष, आकाश, पाताल दैवी शक्तियों के निकेतन अथवा लीला-भूमियां नहीं कुच्छ अन्ध भौतिक व्यापारों के अधिष्ठान अथवा परिणाम मात्र हैं। यह स्थिति भावना के दारिद्र्य की सूचक है। परन्तु इस का यह अर्थ नहीं कि विज्ञान के विकास के साथ साथ कविता का ह्रास होता है। वैज्ञानिक यदि अपने विशिष्ट क्षेत्र को कारा में परिणत करना चाहे तो यह अधिकार तो उसे है। ऐसी दशा में उस की दृष्टि मन्द और उस की प्रभविष्णुता का क्षेत्र संकुचित हो जाता है। परन्तु कविता मनुष्य की भावात्मक सत्ता के समान ही चिरन्तन है और उस चेतना को इस से उसी प्रकार वियुक्त नहीं किया जा सकता जैसे किसी पदार्थ के दक्षिण पार्श्व से वाम को।

नैतिक दृष्टि से तटस्थ रहने की चेष्टा के कारण विज्ञान साहित्य के समान मानव का उपकर्ता नहीं बन सकता। नैतिक प्रयास का अर्थ है अनुभूतियों के मूल्याङ्कन की चेष्टा। भाव को निरस्त करने के कारण विज्ञान अनुभूति को उस के अखण्ड स्वरूप में ग्रहण नहीं कर सकता। विज्ञान के आविष्कारों का प्रयोग जिस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए होता है उसका निर्धारण विज्ञान नहीं कर सकता। विज्ञान के आविष्कार विस्मयजनक हैं परन्तु आकाश में उड़ना और जल के नीचे तैरना ऐसे कार्य्य नहीं जो अवर प्राणी न कर सकते हों। मनुष्य की "मूल्य" भावना —कौन सी अनुभूति प्रेय है और कौन सी श्रेय, कौन सी

वरणीय है कौन सी तिरस्करणीय—का संस्कार, उन्नयन और पथ-प्रणयन धर्म, दर्शन और साहित्य के द्वारा ही होता है। साहित्य में विकलित रूप में भी मनुष्य मिलता है परन्तु कोई भी स्वस्थ समाज ऐसे साहित्य को चिरकाल तक प्रश्रय नहीं देता। मनुष्य की चेतना को उस की समग्रता में प्रस्तुत करने से ही साहित्य कृतकृत्य होता है। शारीरिक, मानस, बौद्धक और आध्यात्मिक कर्म सभी मानव चेतना के व्यापार हैं। इन सभी को पचाने की शक्ति विज्ञान में नहीं। साहित्य का कर्त्तव्य है स्वस्थ मानव के चित्र को धुंधला न होने दे। साहित्यकार मानव के उस रूप का उपासक है जो सौन्दर्य्य का सर्जक और संरक्षक है। आज जड विज्ञान के द्वारा शासित समाज की मूल्य भावना में विकृति आ गई है और मानव अपने भविष्य के संबन्ध में, अपनी मनः शक्ति और प्रज्ञाबल के सम्बन्ध में, संदिग्ध हो गया है। साहित्य इस खोऐ हुए संबल की पुनरुलब्धि में सहायक हो सकता है।

साहित्यकार के समान वैज्ञानिक भी अनुभूतियों का अनुसन्धान करता है। वैज्ञानिक जिस अनुभूति का अनुसन्धान करता है वह इतनी जटिल नहीं जितनी कि साहित्यकार की अनुभूति; क्योंकि साहित्य का विषय अनुभूति के वे रूप ही नहीं जिन का ज्ञान इन्द्रियों को होता है। वैज्ञानिक भी अपने अनुसन्धान में शुद्ध सत्य का अन्वेष्टा हो सकता है परन्तु उस के परिश्रम का स्थूल भौतिक उपयोग अधिक है जैसा कि आधुनिक आविष्कारों से स्पष्ट है। परन्तु फिर भी विज्ञान के आविष्कार साधन मात्र हैं। आधुनिक युग में विज्ञान के गौरव का आधार ये आविष्कार ही हैं, वैज्ञानिक का वह तप और परिश्रम नहीं जो उन

आविष्कारों के सूत्रों को प्रकृति के संकोची हाथों से छीन लाए है। साहित्यकार जिन अनुभूतियों का भावयिता है वे उस के लिए साध्य हैं। साहित्यकार भी 'शिव' का परिहार कर के 'प्रेय' का अनुसन्धान कर सकता है और वैज्ञानिक भी। जब इस प्रकार सुन्दर और शिव समजंस नहीं रहते तो एक ओर तो अश्लील साहित्य का सृजन होता है दूसरी ओर विध्वंस के विपुल साधनों का। एक मानव की चेतना को विषाक्त करता है दूसरा उस के भौतिक अस्तित्व का अन्त। जब साहित्य उदात्त कोटि के मूल्यों का गोप्ता और वितरक बनता है तो विज्ञान की अपेक्षा उसका महत्त्व बढ़ जाता है क्योंकि सब प्रकार की भौतिक ईतियों और कष्टों का विज्ञान के द्वारा निवारण तो हो सकता है परन्तु इस प्रकार के निरापद जीवन का उपयोग किस प्रकार हो—किन मूल्यों के अनुशीलन से जीवन कृतकृत्य होता है इस का ज्ञान प्रदान करने वालों साधनों में साहित्य प्रमुख है। विज्ञान के आविष्कारों, मशीनों आदि के द्वारा हम समय की बचत कर सकते हैं परन्तु यदि उसी समय का उपयोग शुभेतर और गर्ह्य संकल्पों को चरितार्थ करने के लिए करते हैं तो विज्ञान अभिशाप बन जाता हैं।

साहित्य को हृदय और विज्ञान को बुद्धि की प्रसूति मानना एक भ्रान्ति है। इस प्रकार का चेतना का 'विभाजन' भारतीय विचारधारा को मान्य नहीं। यह ठीक है आजकल बुद्धि के अन्तर्गत चेतना की उस शक्ति को लिया जाता है जो अनुभव की ओर विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण को लेकर प्रवृत्त होती है अथवा जो तार्किक पद्धति से अनुभव को आत्मसात् करना चाहती है। परन्तु यह परिभाषा बुद्धि से उस का सारा वैभव छीन

लेती है। बुद्धि के साम्राज्य के बहुत से विषय अथवा प्रदेश—आध्यात्मिक और नैतिक अनुभूति, कला, धर्म, दर्शन—उस से छिन जाते हैं। प्राचीनों की बुद्धि अथवा प्रज्ञा सम्राज्ञी थी। गीता की शरण्या बुद्धि वह विज्ञान की बुद्धि नहीं जो संख्या और परिमाण में ही जगत् की अनेक विधता को समेट लेना चाहती है। बौद्धों की प्रज्ञा पारमिता—वह पारनेत्री बुद्धि जो समस्त क्लेशों को प्रक्षीण करने वाली है—और संसार ज्वाला को शान्त करती हुई जीवन में रस संचार करती है विज्ञान की बुद्धि के साथ उतना ही साम्य रखती है जितना साम्य किरणांकित तरंगों की दीप्ति में और सिकता-कण की चमक में है। इस प्रज्ञा के अन्तर्गत अपरोक्षानुभूति भी थी और वस्तुओं की विविधता का ज्ञान भी। इस का यह अर्थ हुआ कि विज्ञान में ही नहीं कला, धर्म और दर्शन में भी हम सत्य के दर्शन करते हैं। अन्यथा साहित्य तो भावुकता का व्यापारी बन जाता है और सत्य विज्ञान के एकाधिकार में चला जाता है। परन्तु साहित्य का अपना सत्य है, हां, साहित्य सत्य की प्राप्ति सूत्रों और तर्कों के द्वारा नहीं करता। साहित्य में व्यक्तित्व के सत्य का प्रत्यक्ष होता है। विज्ञान यदि सामान्य का ज्ञान प्रस्तुत करता है तो साहित्य विशेष का।

विज्ञान बाह्य पदार्थों, व्यापारों, संबन्धों और प्रकृति के विधान को सूत्रों में अभिव्यक्त करता है। विज्ञान के आविष्कार इन सूत्रों का ही चरितार्थ रूप हैं। हमारे लिए वे सत्य के वाहक हैं। परन्तु प्रश्न यह है:, क्या काव्यात्मक अभिव्यक्ति सत्य की वाहक नहीं? यदि विज्ञान में जल के स्वरूप को व्यक्त करने वाला सूत्र है—

अर्थात् जल की उत्पत्ति हाइड्रोजन और आक्सिजन के दो और एक के अनुपात में मिश्रण से है तो क्या जल के स्वरूप को, उसके सौन्दर्य्य के द्वारा मानव मन में उद्बुद्ध होने वाले सत्य को, कवि की नदी प्रगट नहीं करती।

मानव और स्त्री के प्रेम के संबन्ध में वैज्ञानिक अपना विवरण दे सकता है । इस प्रेम के उदय को कुछ शारीरिक और मानस गुणों के जन्म के साथ संबद्ध कर सकता है। वह विवरण अपने स्थान पर सत्य हो सकता है परन्तु क्या मानव प्रेम की रंगीनी, कोमलता, सुरभि, नूतनता के सत्य को प्रासाद की यह पंक्तियां जितनी सुन्दरता से अभिव्यक्त करती है वह वैज्ञानिक के नीरस चिह्न परिगणन में उपलब्ध हो सकती है ?

मधुमय बसन्त जीवन वन के
वह अन्तरिक्ष की लहरों में
कब आए थे तुम चुपके से
रजनी के पिछले पहरों में ?
क्या तुम्हें देखकर आते यों
मतवाली कोयल बोली थी
उस नीरवता में अलसाई
कलियों ने आंखें खोली थी

साहित्य और मनोविज्ञान

आधुनिक युग में विज्ञान ने भौतिक जगत् के साथ साथ मनुष्य के आन्तर जगत् में भी अपना आधिपत्य स्थापित करने की चेष्टा की है। मनुष्य की धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना को वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर समझने और समझाने की चेष्टा की गई है। मनोविज्ञान के प्रभाव ने अन्तर्जगत् में वही काम किया है जो विज्ञान ने बहिर्जगत् में किया है: हम अतिप्राकृत के प्रति अनास्थावान् हो गए हैं। मनोविज्ञान के कई सम्प्रदाय आध्यात्मिक चेतना के प्रति सर्वथा निर्मम नहीं परन्तु इस में कोई सन्देह नहीं कि साधारण मनुष्य मनोविज्ञान के द्वारा उन समस्याओं को सुलझाना चाहता है जिन का समाधान पहले धर्म और अध्यात्म का क्षेत्र था।

हम यहां फ्रायड और आई. ए. रिचर्ड्स् के सिद्धान्तों

के आधार पर मनोविज्ञान और साहित्य के संबन्ध पर विचार करेंगे। फ्रायड का नाम आधुनिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में शीर्षस्थ है और रिचर्डस् ने सौन्दर्य्य-शास्त्र और आलोचना--शास्त्र दोनों को मनोविज्ञान का वशवर्त्ती बनाने की चेष्टा की है।

फ्रायड ने अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से साहित्य की पूर्ण मीमांसा प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं किया। काव्य-मीमांसा उस का क्षेत्र भी नहीं था। उस का क्षेत्र था मन की संकुलता, इस की दुर्भेद्य तामसता, उस के जटिल और गुह्य व्यापारों का विश्लेषण और अनावरण। काव्यकार भी मनुष्य के अतल मानस का अवगाहन करता है; इसलिए दोनों का एक ही धरातल पर मिलना अनिवार्य है। परन्तु जिस प्रकार उन्नीसवीं शती के वैज्ञानिकों ने मनुष्य की समस्त धार्मिक आध्यात्मिक परंपरा और अनुभूतियों की व्याख्या अपने विशिष्ट जड़वादी दृष्टिकोण से की (और उस में विफल हुए) उसी प्रकार फ्रायड ने भी आरम्भ में व्यावहारिक दृष्टिकोण से काव्य के स्वरूप पर अपना मत प्रगट किया। उसने आग्रह से इस मत की स्थापना की चेष्टा तो नहीं की परन्तु व्यावहारिक जगत् के संबन्ध में विशिष्ट दृष्टिकोण रखने के कारण इस मत की सीमाओं का पूर्ण ज्ञान भी उसे नहीं हुआ। इस मत पर विचार करना इस लिए आवश्यक है कि यह अर्थ-काम-पर "वस्तु-निष्ठ" व्यक्ति की कला-जगत् के प्रति प्रतिक्रिया को व्यक्त करता है। ऐसा व्यक्ति बाह्य जगत् की निरपेक्ष सत्ता में विश्वास रखता है, अर्थ और काम—दो ही उस के पुरुषार्थ हैं, दर्शन, काव्य और धर्म उस के लिए कल्पना का, अमरबेलि के समान, निर्मूल विजृम्भण है।

फ्रायड ने अपनी विचार धारा में बाद में थोड़ा सा परिवर्तन किया परन्तु इस परिवर्तन से उस की साहित्य और कला सम्बन्धी धारणाओं पर विशेष अन्तर नहीं पड़ा। फ्रायड के अनुसार कला में हम अपनी ही व्याहत इच्छाओं को पुनरुज्जीवित करने की चेष्टा करते हैं; कला अवसाद-ग्रस्त वर्तमान से निकलने का द्वार है, कल्पना-विलासी का वास्तविकता से पलायन करने का साधन है। वस्तुओं पर हम अपनी कल्पनाओं का आरोप कर के उनके यथार्थ स्वरूप को आवृत कर देते हैं। मन के द्वारा आरोपित कल्पनाओं का निराकरण कर के वस्तुओं को उनके निरपेक्ष रूप में देख कर ही हम स्वस्थ हो सकते हैं। कला इसलिए वास्तव का आवरण है। वास्तव वह है जो निरपेक्ष रूप में स्थित है, जिस के गुण मनः प्रसूत नहीं। इस के विपरीत हम ने यह देखने की चेष्टा की है कि साधारण लौकिक व्यवहार में भी मन सर्वथा निष्क्रिय तत्त्व नहीं जिस के ऊपर वस्तुएँ और घटनाएँ अपनी छाप छोड़ जाती हैं—मन उस अवस्था में भी सृजनशील है। मन की सृजनात्मकता को भ्रम मानने से मानव की सारी संस्कृति भ्रम मात्र बन जायगी। सेना आंखों के लिए कुच्छ विशिष्ट प्रकार से सज्जित मनुष्यों का समुदाय है। उस समुदाय को सेना के रूप में ग्रहण करना मन का कार्य्य है—सेना मनःप्रसूति है। सेनापति शारीरिक और 'प्राणिक' व्यापारों की दृष्टि से दूसरे सैनिकों से भिन्न नहीं परन्तु अपनी स्थिति विशेष के कारण—और यह स्थिति मानव संस्कृति के सन्दर्भ में जन्म लेती है—वह उनसे भिन्न है। कला मनुष्य की सृजनात्मकता का उज्ज्वल निदर्शन है। यदि कला भ्रम है तो मनुष्य की सांस्कृतिक चेष्टा से प्रसूत सब पदार्थ

भ्रम हैं। फ्रायड की यह मांग कि वस्तु–तत्त्व सर्वथा मन से निरपेक्ष होना चाहिए अथवा होता है पारमार्थिक दृष्टि से ठीक है। परन्तु यथाभूत वस्तु का दर्शन मनुष्य को तभी होता है जब वह स्वयं यथाभूत (आत्म-तत्त्व) के साथ एकाकार हो जाता है। व्यवहार का क्षेत्र मन की सृजनशीलता को समझे बिना अभेद्य बना रहता है। और फ्रायड का क्षेत्र व्यवहार का ही क्षेत्र है, जिस में मन सक्रिय है—मूल्यों का ग्राहक और निर्धारक है। यहाँ मन आत्मा में डूब कर उसके साथ एकाकार नहीं हुआ।

फ्रायड का संकल्प निर्मम हो कर कला पर आक्रमण करना तो नहीं था परन्तु उस के विचारों से कला की स्थिति चिन्त्य अवश्य हो जाती है। फ्रायड के लिए काव्यानन्द में और दूसरे लौकिक स्थूल सुखों में कोई अन्तर नहीं। कला का हेतु वह विफलता है जो कलाकार को लोकैषणा और कामोपभोग की प्राप्ति में मिली है। कलाकार जगत् में अपनी सहज प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट नहीं कर सकता—उस में वह जीवट नहीं जो प्रतिस्पर्धियों को परास्त कर सके। अतः वह कल्पना विलासी हो जाता है। कला कुण्ठित चित्त के विकारों की अभिव्यक्ति है, वह हवाई किलों से अधिक महत्त्व नहीं रखती। सहज प्रवृत्तियों की तुष्टि का प्रयत्न तो गर्ह्य नहीं परन्तु फ्रायड के लिए कला उस मानसिक असन्तुलन से जन्म लेती है जिस का कारण प्रयत्नों का व्याघात है। फ्रायड के लिए स्वस्थ मनोदशा वही है जिस में हम बाह्य जगत् में उतर कर उन सब विषयों की प्राप्ति के लिए परिस्थितियों से जूझते हैं जो कल्पना को आकर्षक लगते हैं। कलाकार इस में असफल हो कर अन्तर्जगत् का ही वासी बन जाता

है और ख़याली पुलाव से ही उदरपूर्त्ति की चेष्टा करता है। कल्पनाओं के साथ यह खिलवाड़ कलाकार का लक्षण है और बाह्य वास्तविकता के साथ संघर्ष कर्मठ, व्यवहार-कुशल व्यक्ति का। कला इस प्रकार कलाकार की दुर्बलता की सूचक है और हमें व्यक्तिगत भ्रान्तियों के लोक का ही दर्शन करवा सकती है।

क्या कला उन वासनाओं की ही छद्म रूप में अभिव्यक्ति है जो परिस्थितियों की विषमता के कारण तृप्त नहीं हो सकीं। कला के स्वरूप के सम्बन्ध में फ्रायड का यह विचार काफ़ी प्रचलित हो गया है। मनोविज्ञान और साहित्य के संबन्ध को समझने के लिए इस पर विचार करना आवश्यक है।

इस संबन्ध में पहली बात जिस का हमें ध्यान रखना चाहिए यह है कि वित्तैषणा और कामैषणा की तृप्ति में तो सभ्य समाज के सब सदस्यों को बाधाओं का सामना करना पड़ता है, इन वासनाओं का दमन करना पड़ता है परन्तु बहुत थोड़े व्यक्ति कलाकार बन पाते हैं। सभ्य समाज में इस प्रकार की कुण्ठाएँ केवल साहित्यकार की ही विशेषता नहीं। कुण्ठा शब्द से यह ध्वनि उठती है कि साहित्यकार इन की तृप्ति में असफल होने के कारण भीतर ही भीतर छटपटाता रहता है, अपनी निर्बलता का ध्यान उसे बार बार कचोटता है। इस दृष्टि से तो सभ्यता सब से बड़ा अभिशाप है। परन्तु यदि यह अभिशाप है तो केवल साहित्यकार ही इस से अभिशप्त नहीं।

परन्तु क्या यह वस्तुतः अभिशाप है ?

क्या मनुष्य का सब से बड़ा दुर्भाग्य यह है कि वह उदरोपस्थ की निर्बाध उपासना नहीं कर सकता ?

कुण्ठावादी का तो यही विचार है । परन्तु यह विचार भ्रम मात्र है । मनुष्य के स्वरूप पर विचार करने से पता चलता है कि यदि इन्द्रियाँ और उन की एषणाएँ प्रकृति-प्रदत्त हैं तो प्रज्ञा और विवेक भी निसर्ग-जन्य हैं । यदि परिवेश के साथ सम्पर्क में आ कर इन्द्रियों का उत्तेजन होता है तो परिवेश के साथ सम्पर्क से ही प्राज्ञ संयम और विवेक के अनुशीलन की प्रेरणा ग्रहण करता है । प्राचीन भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार हम कह सकते हैं कि तमस् और रजस् के साथ सत्त्व भी प्रकृति का ही गुण है । इन्द्रियों की तृप्ति मन की तृप्ति नहीं और मन की तृप्ति अनिवार्यतः बुद्धि की तृप्ति नहीं । इन्द्रिय, मन और बुद्धि को समंजस करने वाला कोई और तत्त्व है । जो तिर्यक् प्राणियों का धर्म है—वह मनुष्य का भी हो यह आवश्यक नहीं । मनुष्य में नई शक्तियों का आविर्भाव हुआ है और इन शक्तियों के व्यापार में भी उतनी ही स्वाभाविकता है जितनी वासनाओं की बहिर्मुखता में । कहने का तात्पर्य यह है कि यदि इन्द्रियों की लालसा मनुष्य की अपनी है तो प्रज्ञा की शक्ति भी उस का ही धर्म है ।

फ्रायड ने बुद्धि की शक्ति का निराकरण नहीं किया । उस ने तो स्पष्ट कहा है कि मनोविश्लेषण का उद्देश्य है अवचेतन के विप्लव-ग्रस्त प्रदेश को बुद्धि का वशवर्त्ती बनाना । परन्तु अवचेतन को बरबस दमित करने से जो विकृतियाँ उत्पन्न हो सकती हैं उन को फ्रायड ने बहुत पल्लवित किया है जिस के परिणाम-स्वरूप उस के अनुयायियों ने उस के बुद्धिवाद की तो उपेक्षा कर दी है और वासनाओं की निर्बाध तृप्ति को ही आत्माभिव्यक्ति

का. पर्याय समझ लिया है । आत्माभिव्यक्ति बुरी नहीं परन्तु वासनाएँ मनुष्य की 'आत्मा' नहीं—इस संबन्ध में मानव की सारी धार्मिक-आध्यात्मिक और दार्शनिक परम्पराएँ एक मत हैं ।

कुण्ठावादियों के अनुसार कलाकार की चेतना रुग्ण है । भारत में कलाकार को रुग्ण कभी नहीं माना गया । 'कवि' यहाँ पर परमतत्त्व की भी संज्ञा है । कवि द्रष्टा है—प्रजापति है । कलाकृति का जन्म समाधि की सी अवस्था से होता है । समाधि में हम चेतना के उन लोकों तक पहुँच सकते हैं जिन के द्वार प्राकृत मनुष्य के प्रतिस्पर्धी वेगों के कारण बन्द रहते हैं । असाधारण प्रतिभा और शक्ति से संपन्न मनुष्य की मानसिक सुस्थता के संबन्ध में वर्तमान युग ही संशय-ग्रस्त हो सकता है । समता का यह अर्थ नहीं कि व्यास और साधारण मोह-ग्रस्त व्यक्ति को एक ही धरातल पर रखा जा सकता है ।

स्वस्थ मन की परिभाषा का निर्धारण साधारण व्यक्ति के द्वारा नहीं हो सकता, और न ही स्वस्थता का आदर्श साधारण व्यक्ति के द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है । पागल मनुष्य चेतना के साधारण धरातल से नीचे गिर जाता है और मनीषी उस से ऊपर उठ जाता है । कलाकार के लिए साधारण मनुष्य की चेतना व्यवहार-दशा के दृष्टि-मान्द्य से पीड़ित रहती है । जब हम केवल बाह्य जगत् को ही वास्तव मानते हैं तो यह व्यवहार-क्लिष्ट, बहिर्मुखी चेतना ही हमारे मूल्यों की निर्धारक बन जाती है । परन्तु जैसा कि पहले कहा गया है हमें यह न भूलना चाहिए कि ऐसा व्यक्ति भी कुण्ठा-ग्रस्त है—उस की भावनात्मक चेतना कुण्ठित हो चुकी है । वाम और दक्षिण—भावनात्मक

और क्रियात्मक-चेतना के दो पार्श्व हैं।

हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि साहित्यकार की चेतना विकृत नहीं हो सकती। परन्तु इस दृष्टि से साहित्यकार में और समाज के दूसरे सदस्यों में कोई अन्तर नहीं। जैसे दूसरे व्यक्ति चेतोविकृति के शिकार हो सकते हैं वैसे कलाकार भी हो सकता है। परन्तु यह चेतोविकृति उस की प्रतिभा का हेतु नहीं। जो 'साहित्यकार' केवल सस्ते प्रकार के मनोरंजन की सामग्री जुटा देता है अथवा जिस का साहित्य ऐन्द्रिय संवेदनाओं और मन के निरर्गल संकल्प-विकल्पों में खोए हुए मानव का चित्रण करके अपने आप को धन्य समझता है उसे हम आदर्श के रूप में ग्रहण नहीं कर सकते। जहां साहित्यकार ऐसे विषयों को अपनाता है जो किसी प्रकार भी मानवहित के साधक नहीं, समाज के लिए जिन की कोई उपयोगिता नहीं वहाँ भी साहित्यकार को सर्वथा स्वस्थ नहीं माना जा सकता। परन्तु हमें 'मानवहित' और 'उपयोगिता' की परिभाषा को व्यापक रूप में देखना होगा। मनुष्य के लिए केवल वही उपयोगी नहीं जो उस के भौतिक 'प्राणिक' हितों का साधक है। उस की सत्ता का भौतिक पक्ष उस के नैतिक-बौद्धिक व्यक्तित्व का व्यावहारिक आधार तो हो सकता है परन्तु यह साध्य नहीं—साध्य तो वह आनन्द है जो सत्य-दर्शन भी है और प्रज्ञा का प्रसाद भी। मानव को इच्छाओं और वासनाओं का निश्चेष्ट भाजन मात्र समझना (ऐसी अवस्था तामस कही जायगी) उस को खण्डित करना है। मानव के लिए वह भी उपयोगी है जो उस के मानस समाधान का हेतु है, जो उस की चेतना को समृद्ध करता है। अर्थ और काम के साथ साथ धर्म और मोक्ष भी "मूल्य" हैं। जब

कलाकार अपने ही निःश्वासों–उच्छ्वासों का व्यापारी बन जाता है तो वह अपने आसन से च्युत हो जाता है। परन्तु यहां भी कवि को उस साधारण व्यक्ति के समकक्ष नहीं रखा जा सकता जो व्यक्तिगत भावों की कारा में ही बन्द रहता है क्योंकि साहित्यिक अभिव्यक्ति का प्रयास ही एक सीमा तक वैयक्तिकता से मुक्ति की चेष्टा है।

अभिव्यक्ति के लिए साहित्यकार को विषय का भावन करना पड़ता है, उस का अधिष्ठाता बनना पड़ता है। यह मानस स्वास्थ्य की अवस्था में ही संभव हो सकता है। अस्वस्थ मानस अपनी कल्पनाओं के पीछे पीछे दौड़ता है—उसी प्रकार जैसे नाव वायु के पीछे (वायुर्नाविमिवाम्भसि)। कलाकार की अपनी प्रतिभा, अपने माध्यम—शब्द, ध्वनि, रंग—पर उस का अधिकार, भी विक्षेप-जन्य नहीं। भावन की अवस्था अहं से वियुक्त और आत्मा से संयुक्त होने की अवस्था है। विषयी विषय का भावन करता है परन्तु 'अहं' विषयी नहीं। सृजन से पहले और सृजन के अनन्तर कलाकार की अवस्था स्वस्थ हो अथवा अस्वस्थ, भावन व्यापार के समय, अभिव्यक्ति की दशा में, वह स्वस्थ ही होता है। इसी प्रकार सहृदय भी काव्यास्वादन के समय जब भावनानिष्ठ होता है तो चित्त की नानाविध विक्रियाओं से मुक्ति पा लेता है। यह अवस्था भी योगी की ही अवस्था है। दोनों में अन्तर यह है कि साधारण कलाकार के जीवन में यह एक भंगुर दशा के रूप में आती है और सिद्ध के जीवन का यह स्थिर स्वरूप है। जब योगी ही कलाकार बन जाता है तो वह जड़ माध्यम—शब्द, रंग—आदि को ही अपनी भावना का वाहक नहीं बनाता प्रत्युत अपने

समस्त जीवन—इच्छा, ज्ञान और क्रिया—को अपनी अन्तर्दृष्टि का प्रतीक बना देता है।

यदि कलाकार की जीवन-चर्या अथवा कर्म-पद्धति साधारण मनुष्य से भिन्न प्रतीत होती है तो इस से ही कलाकार अस्वस्थ सिद्ध नहीं हो जाता। मानव चेतना सभी प्रकार के अनुभवों को समान रूप से आत्मसात् नहीं कर सकती। लम्पट के लिए धृतिमान, जितेन्द्रिय का अनुभव सुलभ नहीं होता। किसी मनोदशा का अनुभव उस से विपरीत मनोदशा के अनुभव को दुर्भेद्य बना देता है। अपनी विशिष्ट साधना में साहित्यकार को साधारण व्यक्ति के लिए सुलभ संवेदनाओं का उत्सर्ग करना पड़ता है। जैसा कि हम ने देखा है व्यवहार–कुशल व्यक्ति अपनी चेतना के भावनात्मक पक्ष का उत्सर्ग कर के अपने आप को धन्य समझता है। श्री और सरस्वती को निसर्ग-भिन्न कहा गया है। यदि कलाकार व्यवहार-कुशल व्यक्ति के मानदण्ड के अनुसार असुन्तलित है तो व्यवहार-कुशल व्यक्ति कलाकार के आदर्श के समक्ष किंपुरुष सिद्ध हो सकता है। यह समझना भ्रान्ति है कि कलाकार अपनी कला में उसी चेतना को वाणी देता है जो उस के साधारण क्रिया-कलाप में अभिव्यक्त होती है। चेतना के ऊर्ध्वतर धरातलों की प्राप्ति के लिए तपश्चर्या की आवश्यकता है—इस संबन्ध में भी सभी धार्मिक-आध्यात्मिक परंपराएँ एकमत हैं। वरुण सुत भृगु पहले अन्न को ही सत्य समझता हैं। तप करने के पश्चात् (स तपस्तप्त्वा) उसे पता चलता है कि प्राण अन्न से उच्चतर तत्त्व है। और अधिक तपस्या उसे वरिष्ठ सत्य की ओर ले जाती है। उसे मन और विज्ञान से भी अतीत आनन्द तत्त्व का साक्षात्कार होता

है। तप ही उसे भूमा भाव की ओर ले जाता है। कलाकार भी इसी प्रकार की तपश्चर्या के द्वारा कृती बनता है। उसे आन्तरिक संघर्ष का भी साक्षात्कार होता है और उस के समाधान का भी । परन्तु यहां भी वह अकेला नहीं । यह मूल्य तो आरुरुक्षु को देना ही पड़ता है । योगवासिष्ठ के राम आरम्भ में अवसाद-ग्रस्त हैं। सिद्धार्थ को मानव क्लेश का गहरा अनुभव होता है । इस संघर्ष के स्वरूप का वर्णन कई प्रकार से हो सकता है—इसे 'बुद्धि' और 'अंहकार' का, वासनात्मक और आध्यात्मिक चेतना का, प्रज्ञा और सहज प्रवृत्तियों का संघर्ष कहा जा सकता है। परन्तु यह संघर्ष केवल कलाकार की विशेषता नहीं । जब तक साधारण अर्थकामी और कामकामी पुरुष 'द्विज' नहीं बन जाता, उसे इस संघर्ष की प्रतीति रहती है। द्विजत्व की प्राप्ति से पहले हम सब अन्तर्द्वन्द्वों से पीड़ित रहते हैं।

परन्तु—थोड़ी देर के लिए ही सही—कलाकार इस संघर्ष से ऊपर उठ सकता है। उसकी सृजनात्मक प्रतिभा उसे यह शक्ति देती है । जब वह इस संघर्ष का भावन करता है—बुद्ध के समान यह कह कर—न सो मे अत्ता—यह मेरी आत्मा नहीं है—उसे विषय-जगत् के अनवरत आवर्तन का अङ्ग समझ कर निराकुल दृष्टि से उस का अवलोकन करता है—उसे अवचेतन के गह्वर से निकाल कर चिति शक्ति के प्रकाश में देखता है, आन्तर और बाह्य विषय-क्षेत्र को विविक्त भाव से 'अपनाता' है तभी वह स्रष्टा बन सकता है । भावन सृजन का प्रारंभ भी है, मध्य भी और अवसान भी।

मनोविश्लेषण का भी यही उद्देश्य है—अवचेतन में

दबे पड़े वृत्तों, संस्कारों, घटनाओं, स्मृतियों को चेतना के प्रकाश में लाना और उन के विषैले प्रभाव का प्रतिकार करना। मनोविश्लेषण में भी जो पहले अहं के साथ संयुक्त था, उस का अंग था, उस से वियुक्त कर दिया जाता है, उस का 'विषयी-करण' होता है' और विषय के रूप में उस का अनुसन्धान होता है। परन्तु इस अन्तर को भी ध्यान में रखना चाहिये कि जहां फ्रायडवादी विश्लेषण के द्वारा विकारों से मुक्त होने की चेष्टा करता है वहां भावन व्यापार में चेष्टा और परिणाम में व्यवधान नहीं होता, भावन व्यापार की सफल प्रवृत्ति ही मुक्ति है।

कला के सम्बन्ध में फ्रायड की धारणा पाश्चात्य और पौर्वात्य परंपराओं के विरुद्ध है। कर्म-जगत् में विफल होने के कारण कलाकार मनोनिलय में प्रवेश करके वहां बच्चों की तरह 'कल्पनाओं' के रंगीन बुद्बुद उठाता रहता है, और वास्तव भोग की प्राप्ति में असफल होकर 'काल्पनिक' सुखों में ही रमण करता है—यह धारणा कला और साहित्य को निम्न कोटि का व्यापार बना देती है। ऐसा भी साहित्य है जो ऐन्द्रियता का साधक है, जिसका लक्ष्य मनोवेगों को उत्तेजित करना है। खण्डित चेतना भी कलात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त कर सकती है परन्तु उसे ही कला की परिभाषा का निर्धारण करते हुए ध्यान में नहीं रखना चाहिये। वाल्मीकि, व्यास और दांते की कला वेगों को उद्दीप्तमात्र नहीं करती। मनुष्य की परिभाषा उस के स्वस्थ रूप के आधार पर ही जा सकती हैं—रुग्ण मनुष्य को देखकर नहीं। कला के संबन्ध में यह बात याद रखनी चाहिए कि ये मानव जीवन के उन मूल्यों की भी गोप्त्री है जिनका साक्षात्कार

प्रज्ञा को होता है।

साहित्य-सृजन स्वप्न-दर्शन नहीं । स्वप्नावस्था में चेतना के उच्चतर केन्द्र सुषुप्त रहते हैं; प्रज्ञा का व्यापार उपरत रहता है। साहित्य सृजन में ऐसा नहीं होता। दिवा-स्वप्न की अवस्था में भी कल्पनाओं का निर्बाध प्रवाह मनःशक्ति की दुर्बलता का परिचायक है। इस अवस्था में हम इस प्रवाह को प्रतिषिद्ध नहीं कर सकते। परन्तु साहित्य-सृजन में साहित्यकार सामाजिक परिवेश की उपेक्षा नहीं करता । साहित्य-व्यापार सहृदय के लिए ही है। कवि कविता लिखने के बाद सहृदय के रूप में ही उसे पढ़ता है। साहित्यकार एक ऐसे माध्यम का प्रयोग करता है जो उस की सृजन-चेष्टा को सजग और सावधान रहने के लिए बाधित करता है। दिवा-स्वप्नों का द्रष्टा तो मन की विषम भूमियों में ही विचरण करता है परन्तु साहित्यकार सृजन और प्रेषण और माध्यम के प्रयोजन, संस्करण, प्रणयन में दत्तचित्त होता है। उसे अमूर्त्त को मूर्त्त करना होता है। उस का व्यापार सक्रिय आदान-प्रदान का व्यापार है; आदान क्योंकि वह अपने परिवेश से संकेत, विचार आदि का ग्रहण करता है परन्तु साथ ही अपनी सृजन-चेष्टा से वह उन्हें एक नूतन रूप देता है, और प्रदान— क्योंकि परिवेश का अंग बन कर कलाकृति दूसरे सहृदयों के साथ सृजनात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है। तुलसी और सूर नूतन अनुभूतियों के अक्षय स्रोत हैं । यदि वे स्वप्न द्रष्टा मात्र होते तो उनका प्रभाव इतना दूरगामी नहीं हो सकता था।

मनोविज्ञान का प्रयोग साहित्य की प्रेरणा के स्वरूप को समझने के लिए भी किया गया है और उस का

मूल्याङ्कन करने के लिए भी । परन्तु क्या मनोविज्ञान काव्यकार के मन का अवितथ ज्ञान हमें दे सकता है ? क्या कविता कवि की मन:स्थिति की अभिव्यक्ति है ? इस सम्बन्ध में हमें यह न भूलना चाहिए कि कविता को जिस मनोदशा की अभिव्यक्ति कहा जाता है, वह सृजन के समय कवि की भावना का विषय ही थी । यदि वह कविता प्रणय-गान है तो प्रणय वहां एक भावित वेग है । कविता लिखते समय भी नाना प्रकार के व्यापार मन में हो सकते हैं—कोई स्मृति स्फुरित हो सकती है, अभिव्यक्ति के शैथिल्य के कारण खीझ का अनुभव हो सकता है, किसी पत्र को पाकर उल्लास अथवा विषाद की क्षणिक प्रतीति हो सकती है । ये सब व्यापार काव्य सृजन के समय मन में हो सकते हैं । यदि कविता वस्तुत: मन:स्थिति का चित्रण है तो इन सब को प्रणय कविता में स्थान मिलना चाहिए । परन्तु कवि उस समय की स्थिति का चित्रण नहीं करता, भावना के समक्ष विद्यमान विषय को वाणी देता है । यदि कवि स्वयं भी यह कहे कि कविता उसकी काव्यसृजन के समय की-मन: स्थिति को अभिव्यक्त करती है तो भी हम इस कविता को केवल कवि की मनोदशा का दर्पण नहीं मान सकते क्योंकि सहृदय जिसे कवि की अनुभूति समझ रहा है उस में उस के अपने संस्कारों का अनिवार्यत: मिश्रण हो जाता है ।

काव्य के मूल्याङ्कन के लिए मनोविज्ञान कहां तक प्रयोजनीय है ? किसी काव्यकार के मनोविज्ञान से परिचित हो कर ही हम उस का सम्यक् मूल्याङ्कन नहीं कर सकते । कविता का साक्ष्य उस के अपने मौखिक साक्ष्य से अधिक विश्वसनीय है । यह इतिहास आदि से प्राप्य कवि

के जीवन-चरित, मनोविज्ञान सम्बन्धी तथ्यों से भी अधिक उस के मनः संगठन का परिचायक है; क्योंकि कविता उस की भावना की, उस की चेतना के गहन अन्तर्वर्त्ती स्तरों की, वाणी है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि हम स्वयं अपने चरित्र के कई पक्षों से अपरिचित रहते हैं, हमारे मित्र और पड़ोसी भी हमें पूरी तरह से जान नहीं सकते। काव्य चेतना के उन स्तरों से उद्भूत होता है जहां हमारे व्यक्तित्व को झङ्कृत करने वाले, हमारी मूल्य भावना के निष्पादक, तत्त्वों, अनुभवों का निवास हैं। वाल्मीकि के स्थूल व्यक्तित्व का वर्णन तो उन का कोई समकालीन कर सकता था परन्तु उन का वास्तव व्यक्तित्व जो जीवन सम्बन्धी अनुभवों के आलोडन-विलोडन और भावन से बना था, उन की वह मूल्य-भावना जो अन्तश्चेतना की विशेषता है, जिस विशदता से रामायण में अभिव्यक्त हुई है वैसे किसी भी जीवन-चरित में प्रतिफलित नहीं हो सकती थी। मनुष्य अपने पड़ोसी को धोखा दे सकता है परन्तु अपनी भावन-शक्ति को धोखा नहीं दे सकता। वह अपने अतिचेतन को भी धोखा नहीं दे सकता। हमें उस काम को करने के लिए बाधित किया जा सकता है जिसे हम नहीं करना चाहते परन्तु हमें अरुचिकर और अवास्तव अथवा तुच्छ प्रतीत होने वाले व्यापार अथवा पदार्थ का भावन करने के लिए बाधित नहीं किया जा सकता। और हम साहित्यिक अभिव्यक्ति उसी अनुभव को दे सकते हैं जिस ने हमारी भावना को उन्मेष दिया है। दूसरे तथ्यों की तरह मनोविज्ञान के तथ्य भी भावना के विषय बन कर और सहृदय के संस्कारों के साथ मिल कर जो रूप धारण करते हैं उन का विवरण साधारण वैज्ञानिक रीति से

नहीं दिया जा सकता ।

यद्यपि फ्रायड को अन्तिम वर्षों में इस बात का आभास होने लगा था कि साहित्य और कला के क्षेत्र में मनो-विश्लेषण-शास्त्र के सिद्धान्तों की उपादेयता सीमित है उस के अनुगामियों ने इन सीमाओं को नहीं पहचाना और अपनी पूरी शक्ति से इस क्षेत्र को हथियाने की चेष्टा की है। फ्रायड के अनुगामियों ने मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद का अर्थ यह लिया है कि अपक्व-करण मनुष्य का चित्रण किया जाय—ऐसे मनुष्य का जो ऐन्द्रिय संवेदना को मानव अनुभूति का चरमबिन्दु समझता है, जिस के लिए वासना की तृप्ति ही आत्मा की तृप्ति है। इस मनोविज्ञान के अनुसार बुद्धि वासनाओं के अन्ध प्रवाह में बहता हुआ तिनका है । मनुष्य इन अन्ध शक्तियों के सामने निरीह है । हमारे विचार हमारी इच्छाओं की ही सन्तति हैं।

मानव व्यक्तित्व के सम्बन्ध में ये धारणाएँ उसे दयनीय बना देती हैं और उस की नैतिक आध्यात्मिक साधना की दीर्घ परंपरा को तिरस्करणीय मृषावाद । परन्तु यदि हमारे विचार हमारी इच्छाओं की ही उपज हैं तो मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी के विचार भी उस की इच्छाओं की सन्तति होने के कारण उसी प्रकार चिन्त्य हैं जिस प्रकार अन्य विचारकों के। वस्तुतः मनुष्य के समग्ररूप में जहां वासना का स्थान हैं वहां बुद्धि और आत्म दर्शन का भी है। वासना यदि मूल है तो बुद्धि फूल और आत्म-दर्शन फल। शुभवासनाएँ ही हमें कल्याणाभिनिवेशी बनाती हैं। इन के समुच्चय मात्र से मनुष्य का समग्ररूप निष्पन्न नहीं होता। जब ये एक दूसरे के साथ विशिष्ट रूप से सम्बद्ध रहती हैं—तभी मनुष्य आत्म-लाभ कर सकता है।

मनुष्य का आन्तरिक स्वरूप स्वप्नों, स्मृतियों, इच्छाओं, आशाओं के प्रवाह मात्र से निष्पन्न नहीं होता। इस प्रकार की मनोदशाओं की तालिका तय्यार कर देना साहित्यकार का काम नहीं। साहित्य अनिवार्यतः मूल्यों की प्रतिष्ठा है। साहित्य मनुष्य का वह व्यापार है जिस में वह जाने अनजाने मूल्यों को स्वीकार करता है और उन के तारतम्य की स्थापना करता है। मानस प्रवाह के चित्रण का अर्थ है कि ऐन्द्रिय संवेदनाओं और नैतिक-बौद्धिक अनुभूतियों को मानस जनतन्त्र में एक जैसे अधिकार प्राप्त हैं। ऐसे मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी के लिए नैतिक-बौद्धिक अनुभूतियाँ भी छद्म-वेषिणी ऐन्द्रिय-संवेदनाएँ हैं। यह धारणा ही आधुनिक उपन्यास में मनुष्य के पतन का कारण बनी है। मानव को हम न तो आत्म-साधना करते हुए पाते हैं, न अपनी बौद्धिक चेतना के संस्कार का प्रयास करते हुए—उसे मन के आवर्त-विवर्त में और ऐन्द्रिय-संवेदनाओं के प्रवाह में डूबते उतराते ही देखते हैं।

(२)

रिचर्डस् की कृति 'Principles of Literary Criticism' ('साहित्य समालोचना के सिद्धान्त') ने काफ़ी ख्याति प्राप्त की है। इस का प्रकाशन १९२४ में हुआ। इस का उद्देश्य सृजनात्मक साहित्य-विशेषतः कविता के स्वरूप पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करना था। रिचर्डस् के लिए साहित्य और जीवन का विभाजन कृत्रिम है। साहित्य में भी हमें उन्हीं मूल्यों का अनुसन्धान करना चाहिये जिन के कारण हमारे लिए जीवन काम्य बनता

हैं। रिचर्डस् ने कलात्मक अनुभूति के स्वरूप को अनावृत करने के लिए मनोविज्ञान, अर्थ विज्ञान और परंपरागत आलोचन-सरणियों पर सूक्ष्म रूप से विचार करने की चेष्टा की है। अपनी प्रसन्न शैली को भावुकता से फेनिल नहीं होने दिया। उस के अनुसन्धेय प्रश्न हैं : (i) कविता के पढ़ने अथवा अन्य कलाओं के अनुशीलन से प्राप्त होने वाली अनुभूतियां हमारे लिए बहुमूल्य क्यों हैं ? (ii) कौन से मानों के आधार पर हम एक कला-कृति को दूसरी से श्रेष्ठ मानते हैं ? (iii) कलात्मक अनुभूतियों में किस आधार पर तारतम्य स्थापित किया जा सकता है ? एक अनुभूति दूसरी की अपेक्षा उच्चतर कोटि की क्यों मानी जाती हैं ? आदि।

रिचर्डस् ने अपने सिद्धान्तों को विज्ञान के धरातल पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है। इस प्रयास में उसे दार्शनिक गुत्थियों से उलझना पड़ा है। अनुभूति का क्या स्वरूप है ? साध्य, मूल्य अथवा value का ज्ञान अथवा निर्धारण किस प्रकार होता है ? कविता अथवा कला क्या है ? हम इन्हें मनोविज्ञान अथवा सौन्दर्य्यशास्त्र की समस्याएँ कह सकते हैं परन्तु व्यापक दृष्टि से विचार करने पर मनोविज्ञान और सौन्दर्य्य-शास्त्र का समावेश भी दर्शन-शास्त्र में हो जाता है। इस प्रकार के व्यापक सन्दर्भ में कविता और कला का मूल्य परखने की चेष्टा प्रशंसनीय है—रिचर्डस् के निष्कर्षों से चाहे हम सहमत हों या न हों।

रिचर्डस् को साहित्य-समालोचना के क्षेत्र में किए गए पूर्ववर्त्ती प्रयासों में विषय को उद्भासित करने वाली अन्तर्दृष्टियां और विचारों की स्फुरत्ता तो मिलती है परन्तु किसी भी समालोचक में सारी समस्याओं का समग्र रूप से

समाधान करने की चेष्टा दिखाई नहीं देती। इन में से कोई भी समालोचक इन केन्द्रीय प्रश्नों का उत्तर नहीं देता: "कलाओं का क्या मूल्य है? उच्चकोटि की प्रतिभाओं ने अपने जीवन के बहुमूल्य क्षण इन्हें क्यों निवेदित किए हैं? मानव की प्रयत्न सन्तति में इन का क्या स्थान है?"

रिचर्डस् यह मानने के लिए तय्यार नहीं कि 'सत्य', शिव, सुन्दर संसार से सर्वथा विच्छिन्न, निरपेक्ष सत्ताएँ हैं जिन का स्वरूप सामान्य अनुभूतियों से विलक्षण है। इसी प्रकार कलात्मक अनुभूति कोई ऐसा व्यापार नहीं जिस की निष्पत्ति सामान्य अनुभव में विद्यमान तत्त्वों से असंबद्ध हो। वह मनोविज्ञान जो मन को संकल्प-शक्ति, भावनाशक्ति और चिन्तन-शक्ति में त्रिधा विभक्त कर देता है रिचर्डस् को मान्य नहीं। इस भ्रामक मनोविज्ञान के अनुसार संकल्प शक्ति सुन्दर का अनुसन्धान करती है। प्रश्न यह है कि कलात्मक अनुभूति में कोई ऐसा तत्त्व है जो इन अनुभूतियों में नहीं? क्या कला का मूल्य इस अनुभूति में पर्यवसित हो जाता है? कलात्मक अनुभूति को जीवन की सामान्य अनुभूतियों से विलक्षण मानने से कला के लोक और इहलोक में गहन विषमता उत्पन्न हो जाती है। रिचर्डस् के अनुसार कविता पढ़ने से प्राप्त हुई हुई अनुभूति सामान्य अनुभूतियों से जटिल अथवा सूक्ष्म तो हो सकती है परन्तु इस के संघटक अवयव वही हैं। कलात्मक अनुभूति को ब्रह्मानन्दसहोदर कहने, उसकी तटस्थता अथवा निर्वै-यक्तिकता की ओर निर्देश करने से इस अनुभूति के वास्तविक स्वरूप का पता नहीं चलता—'निर्वैयक्तिकता आदि तो "सफल प्रेषण" के आनुषंगिक परिणाम

हैं।" § हम नीचे इस मत की समीक्षा करेंगे। सौन्दर्य्य कोई ऐसा गुण नहीं जो निरपेक्ष रूप में कला-कृतियों में रहता है और जिस की स्थिति में प्रमाता के होने अथवा न होने से कोई अन्तर नहीं आता। यह कहना कि अमुक पदार्थ सुन्दर हैं केवल एक ही अर्थ रखता है: "इस पदार्थ के ज्ञान से मेरे मन में जो अनुभूति उत्पन्न हुई है वह अपने आप में आस्वाद्य है।" * शब्द इस प्रकार भ्रम के उत्पादक बन जाते हैं। काव्य के कला-पक्ष के अन्तर्गत रिचर्डस् कला-कृति के उन लक्षणों को रखता है जो अनुभूति के उद्‌बोधन अथवा उद्दीपन के कारण हैं। अनुभूति का मूल्य निर्धारित करना और मूल्य-निर्धारण के लिए प्रयोग में लाए गए मान-दण्डों को स्पष्ट करना आलोचक का मुख्य-कार्य्य है। रिचर्डस् के अनुसार मूल्य निर्धारण के लिए दर्शन अथवा नीति-शास्त्र के सिद्धान्तों का प्रयोग अभीष्ट नहीं; यह काम मनोविज्ञान से ही चल सकता है। आदर्श आलोचक बनने के लिए दर्शन का ज्ञान उतना वाञ्छनीय नहीं जितना मनोविज्ञान का। कला के अनुशीलन से प्रसूत अनुभूतियां मानस-व्यापार हैं और उन के यथार्थ ज्ञान और विश्लेषण के लिए मनोविज्ञानवेत्ता ही समर्थ हैं न कि दार्शनिक।

कला का मूल्य उस अनुभूति में है जिसे वह रूप देती है। रिचर्डस् के अनुसार कलाएँ उन अनुभूतियों की साक्षिणी हैं जो जीवन के विकास की परिचायक हैं; उस की संभावनाओं को चरितार्थ करती हैं। कलाकार जीवन की सूक्ष्म, सुषम छबियों और अनुभूतियों के प्रति सजग है।

---

§ Principles of Literary Criticism, 15. *वही, 21

कलाकृति के द्वारा वह दूसरों को बतलाता है: मैं ने अमुक अनुभूति में जीवन की कमनीयता के दर्शन किए हैं; यह कलाकृति उस अनुभूति को स्थायित्व देने का प्रयत्न है"। जीवन के साधारण अनुभव तो सब के लिए समान हैं। लोग खाते हैं, पीते हैं, हंसते है; झूठ बोलते हैं, किसी को अपना समझते हैं किसी को पराया परन्तु इस प्रकार के अनुभव साधारणतया गोप्तव्य अथवा संरक्षणीय नहीं। यह ठीक है व्यक्तिगत संस्कारों के कारण जो अनुभव एक व्यक्ति के लिए साधारण है दूसरे के लिए अर्थ-सम्पन्न हो सकता है। परन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि कलाकार उसी अनुभव को अपनी कृति में मूर्त करने की चेष्टा करता है जब जीवन का कोई रूप अथवा व्यापार उस के लिए अर्थवत्ता से उद्भासित हो उठता है

आलोचक के लिए मूल्याङ्कन के आधार स्पष्ट होने चाहिएँ। कला कला के लिए नहीं हो सकती। उस के सामाजिक और नैतिक परिणाम की उपेक्षा करना उसकी अर्थवत्ता को सङ्कुचित करना है। परन्तु उस के नैतिक परिणामों का अनुशीलन पवित्रम्मन्य, कट्टरपन्थियों की धारणाओं के आधार पर नहीं होना चाहिये। 'आलोचक के लिए मनकी स्वस्थता उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी शारीरिक स्वस्थता वैद्य अथवा चिकित्सक के लिए'।† आलोचना का कार्य्य विविध अनुभूतियों में तारतम्य स्थापित करना है। कौन सी अनुभूतियां वरणीय हैं और कौन सी त्याज्य—इस का निर्णय करने के लिए हमें Value "अथवा" "मूल्य-भावना" के स्वरूप पर विचार करना होगा।

---

† वही, पृष्ठ २५

Value अथवा "मूल्य" वह है जिस के द्वारा हमारी वासनाओं, मनोवेगों अथवा भावनाओं की तृप्ति हो। हम जीवन में इन की तृप्ति के लिए ही सचेष्ट रहते हैं। जीवन में विकास का अर्थ है इन मनोवेगों को उत्तोरत्तर व्यवस्थित करना, नये ज्ञान के आलोक में अथवा सामाजिक धारणाओं और परंपरीण आचार-विचार से बाधित होकर इनके लिए लक्ष्यों की स्थापना करना। हमारी चेष्टा तो यही होती है कि इन वेगों को इस प्रकार से व्यवस्थित किया जाय जिस से इन में से अधिक से अधिक संतृप्त हो सकें। ये मनोवेग या तो रागात्मक हैं या द्वेषात्मक। यदि हम अपने मनोवेगों की प्रवृत्ति पर विचार करें तो हमें पता चलेगा कि कुछ का पारस्परिक विरोध शाश्वतिक है और कुछ ऐसे हैं जिन्हें कतिपय व्यक्ति तो समन्वित कर सकते हैं दूसरे नहीं। एक दिशा में लाभ दूसरी दिशा में हानि का कारण बनता है। भौतिक स्तर पर चिर काल तक नाना प्रकार के मसालों का स्वाद तो हम ले सकते हैं परन्तु इस से हमारी जिह्वा की रसन-शक्ति पर प्रभाव पड़ता है। ये राग और द्वेष रिचर्डस् के अनुसार हमारे चेतन मन द्वारा निर्धारित नहीं होते। यह तो स्पष्ट है कि इन में से कुच्छ को तृप्त करने के लिए दूसरों को बाधित करना पड़ता है। इस प्रकार एक मनोवेग से संबद्ध प्रवृत्तियों को न अपनाने का कारण यह हो सकता है कि इस से अधिक प्रबल अथवा महत्त्वपूर्ण वेगों को कुण्ठित होना पड़ता है। इसलिए इन मनोवेगों के सापेक्ष महत्त्व की मीमांसा करते हुए रिचर्डस् का निष्कर्ष है : वह मनोवेग महत्त्वपूर्ण हैं जिसका बाध दूसरे मनोवेगों के व्यापारों को अस्तव्यस्त कर देता हैं। इस अस्तव्यस्तता की मात्रा जितनी अधिक होगी

वह मनोवेग उतना ही अधिक प्रबल कहा जायगा।"§ इस प्रकार विशिष्ट कार्य्यों में प्रवृत्त न होने का कारण अन्तरात्मा की आवाज़ अथवा किसी धर्मग्रन्थ, सन्त, महात्मा, औलिया का आदेश नहीं परन्तु यह कि ऐसा करने से एक प्रकार का मानस संप्लव या विक्षेप उत्पन्न हो जायगा—दूसरे महत्त्वपूर्ण मनोवेगों से संबद्ध प्रवृत्तियों में व्याघात पड़ेगा। रिचर्ड्स् ने यह प्रयत्न किया है कि मनोवेगों के महत्त्व की स्थापना के लिए किसी धार्मिक अथवा नैतिक आधार को न अपनाया जाय।

इन मनोवेगों को किसी न किसी प्रकार व्यवस्थित किए बिना जीवन यापन कठिन हो जाता है। इन्हें व्यवस्थित करने के कई प्रकार हैं क्योंकि विविध वेगों के प्राबल्य, उत्तमता, अवरता, आदि के संबन्ध में व्यक्तियों के मत भिन्न भिन्न होते हैं। ये मत चेतन मन की तार्किक अथवा बौद्धिक प्रवृत्ति के आधार पर स्थिर नहीं होते, अचेतन मन की वासनाएं और परोक्ष प्रवृत्तियां ही इन की निर्धारक हैं। किसी मानव व्यक्तित्व के मूल्याङ्कन का अर्थ है इन मनोवेगों, वासनाओं, आकांक्षाओं और प्रवृत्तियों के उस व्यवस्थान अथवा प्रबन्ध का मूल्याङ्कन जो उस व्यक्तित्व ने उपलब्ध किया है। इस दृष्टि से वह निकाय अधिक मूल्यवान् अतः उपादेय होगा जिस में कम से कम मनोवेगों का बाध हो, और अधिक से अधिक तृप्ति की प्राप्ति।

मानव व्यापारों और वेगों के अनेक निकाय बन सकते हैं। ब्राह्मण इनकी व्यवस्था एक प्रकार से करेगा, क्षत्रिय और वैश्य और प्रकार से। किसी भी समाज में इन वेगों और व्यापारों का अनेकविध संघटन उपलब्ध होगा क्योंकि समाज की स्थिति के निर्वाह के लिए कई प्रकार की क्षमताएं चाहिएँ।

---

§ वही पृष्ठ ५१

Value अथवा "मूल्य" वह है जिस के द्वारा हमारी वासनाओं, मनोवेगों अथवा भावनाओं की तृप्ति हो। हम जीवन में इन की तृप्ति के लिए ही सचेष्ट रहते हैं। जीवन में विकास का अर्थ है इन मनोवेगों को उत्तोरत्तर व्यवस्थित करना, नये ज्ञान के आलोक में अथवा सामाजिक धारणाओं और परंपरीण आचार-विचार से बाधित होकर इनके लिए लक्ष्यों की स्थापना करना। हमारी चेष्टा तो यही होती है कि इन वेगों को इस प्रकार से व्यवस्थित किया जाय जिस से इन में से अधिक से अधिक संतृप्त हो सकें। ये मनोवेग या तो रागात्मक हैं या द्वेषात्मक। यदि हम अपने मनोवेगों की प्रवृत्ति पर विचार करें तो हमें पता चलेगा कि कुछ का पारस्परिक विरोध शाश्वतिक है और कुछ ऐसे हैं जिन्हें कतिपय व्यक्ति तो समन्वित कर सकते हैं दूसरे नहीं। एक दिशा में लाभ दूसरी दिशा में हानि का कारण बनता है। भौतिक स्तर पर चिर काल तक नाना प्रकार के मसालों का स्वाद तो हम ले सकते हैं परन्तु इस से हमारी जिह्वा की रसन-शक्ति पर प्रभाव पड़ता है। ये राग और द्वेष रिचर्डस् के अनुसार हमारे चेतन मन द्वारा निर्धारित नहीं होते। यह तो स्पष्ट है कि इन में से कुच्छ को तृप्त करने के लिए दूसरों को बाधित करना पड़ता है। इस प्रकार एक मनोवेग से संबद्ध प्रवृत्तियों को न अपनाने का कारण यह हो सकता है कि इस से अधिक प्रबल अथवा महत्त्वपूर्ण वेगों को कुण्ठित होना पड़ता है। इसलिए इन मनोवेगों के सापेक्ष महत्त्व की मीमांसा करते हुए रिचर्डस् का निष्कर्ष है : वह मनोवेग महत्त्वपूर्ण हैं जिसका बाध दूसरे मनोवेगों के व्यापारों को अस्तव्यस्त कर देता हैं। इस अस्तव्यस्तता की मात्रा जितनी अधिक होगी

वह मनोवेग उतना ही अधिक प्रबल कहा जायगा।"§ इस प्रकार विशिष्ट कार्य्यों में प्रवृत्त न होने का कारण अन्तरात्मा की आवाज़ अथवा किसी धर्मग्रन्थ, सन्त, महात्मा, औलिया का आदेश नहीं परन्तु यह कि ऐसा करने से एक प्रकार का मानस संप्लव या विक्षेप उत्पन्न हो जायगा—दूसरे महत्त्वपूर्ण मनोवेगों से संबद्ध प्रवृत्तियों में व्याघात पड़ेगा। रिचर्ड्स् ने यह प्रयत्न किया है कि मनोवेगों के महत्त्व की स्थापना के लिए किसी धार्मिक अथवा नैतिक आधार को न अपनाया जाय।

इन मनोवेगों को किसी न किसी प्रकार व्यवस्थित किए बिना जीवन यापन कठिन हो जाता है। इन्हें व्यवस्थित करने के कई प्रकार हैं क्योंकि विविध वेगों के प्राबल्य, उत्तमता, अवरता, आदि के संबन्ध में व्यक्तियों के मत भिन्न भिन्न होते हैं। ये मत चेतन मन की तार्किक अथवा बौद्धिक प्रवृत्ति के आधार पर स्थिर नहीं होते, अचेतन मन की वासनाएं और परोक्ष प्रवृत्तियां ही इन की निर्धारक हैं। किसी मानव व्यक्तित्व के मूल्याङ्कन का अर्थ है इन मनोवेगों, वासनाओं, आकांक्षाओं और प्रवृत्तियों के उस व्यवस्थान अथवा प्रबन्ध का मूल्याङ्कन जो उस व्यक्तित्व ने उपलब्ध किया है। इस दृष्टि से वह निकाय अधिक मूल्यवान् अतः उपादेय होगा जिस में कम से कम मनोवेगों का बाध हो, और अधिक से अधिक तृप्ति की प्राप्ति।

मानव व्यापारों और वेगों के अनेक निकाय बन सकते हैं। ब्राह्मण इनकी व्यवस्था एक प्रकार से करेगा, क्षत्रिय और वैश्य और प्रकार से। किसी भी समाज में इन वेगों और व्यापारों का अनेकविध संघटन उपलब्ध होगा क्योंकि समाज की स्थिति के निर्वाह के लिए कई प्रकार की क्षमताएं चाहिएँ।

---

§ वही पृष्ठ ५१

एक प्रबन्ध में जो प्रवृत्ति शीर्षस्थ है दूसरे में नीचस्थ हो सकती है। चिन्तन, मनन का जो महत्त्व ब्राह्मण्य प्रबन्ध में है, क्षात्र में नहीं। क्षात्र प्रबन्ध की प्राप्ति के लिए ब्राह्मणत्व में निहित कुछ मूल्यों का तिरस्कार करना पड़ेगा। किसी प्रबन्ध का मूल्याङ्कन करने के लिये हमें यह देखना पड़ता है कि इस के संव्यूहन में हमें महत्त्वपूर्ण मानवीय मूल्यों को तो नहीं छोड़ना पड़ा। किसी व्यसनी के मनोव्यापारों के संगठन पर विचार करने से पता चलेगा कि उस के विशिष्ट मनः संस्थान में ऐसे कई मूल्यों का समावेश नहीं हो सकता। किसी कामुक अथवा मद्यप के मनः संस्थान के साथ हम इन मूल्यों का सामंजस्य नहीं कर सकते—चित्तवृत्तियों का संयमन, दूसरे के हितों और भावों के प्रति सद्भावना, मानवीय व्यक्तित्व में निहित विकास की संभावनाओं को क्रियात्मक रूप देने का प्रयत्न, सुख दुःख के तात्विक स्वरूप का ज्ञान, सामाजिक मर्यादा के प्रति जिस के कारण हम अपने प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट कर सकते हैं आस्था का भाव इत्यादि।

रिचर्डस् के अनुसार काव्य का उद्देश्य है इन मनोवेगों का व्यवस्थापन। मन उस के लिए मनोवेगों का समुच्चय है। स्नायविक संस्थान (nervous system) और मन में रिचर्डस् के अनुसार कोई अन्तर नहीं। मनोवेगों की व्यवस्था अथवा समंजसता का अर्थ है स्नायविक संस्थान की स्वस्थता। मानसिक व्यापारों की प्रक्रिया का विवरण रिचर्डस् ने इस प्रकार दिया है:—

बाह्य अथवा आन्तर पदार्थ और व्यापार हमारी क्रियाओं के प्रेरक हैं। किसी सुन्दर पदार्थ को देखकर मैं

उसे पाने का प्रयत्न करता हूं। वह बहिःस्थ पदार्थ मेरी क्रिया-सन्तति का प्रेरक है। अथवा बैठे बैठे मेरे मन का कोई पुराना संस्कार जाग उठता है, अथवा कोई सोई इच्छा उन्मीलित हो उठती है—मुझे नदी पर जा कर तैरना चाहिये, अथवा अमुक वस्तु की प्राप्ति के लिए चेष्टा करनी चाहिये। ये प्रेरणाएं किसी पुरोवर्त्ती पदार्थ से नहीं मिलती—अतः इनका उद्गम-स्थान मन ही है। बहिर्जगत् अथवा अन्र्तजगत् से उद्भूत ये प्रेरणाएं अपने आप को कर्म में परिणत करना चाहती हैं। इस प्रकार की अगणित प्रेरणाओं का अनुभव मनुष्य को होता रहता है परन्तु इन में से कौन सी प्रेरणा कर्म रूप में अभिव्यक्ति प्राप्त करेगी—यह हमारी रुचि, संस्कार, तत्कालीन मनोदशा और इच्छाओं पर निर्भर है। कोई परीक्षार्थी परीक्षा दे रहा है। उसके शरीर को थोड़ा सा कष्ट है। पढ़ते समय उसे संगीत-ध्वनि भी सुनाई दे रही है। कुच्छ दूर मित्रगण मनोरंजन में व्यस्त हैं। वह इन सब प्रेरणाओं की उपेक्षा करके अपने अध्ययन में लगा रहता है। किसी दूसरे समय वह पास पड़ी हुई पुस्तकों की उपेक्षा कर के या तो मित्रगण के साथ जा मिलता, अथवा किसी वैद्य के पास जाता अथवा संगीत की ओर ध्यान देता।इस प्रकार उसने अपनी इन प्रेरणाओं को एक विशिष्ट प्रकार के तारतम्य में रखा क्योंकि उस की परिस्थितियों और हितों के सन्दर्भ में ऐसा तारतम्य अपेक्षित था।

प्रेरणा-जन्य मनोवेगों को इस प्रकार से समंजस करना जिस से अधिक से अधिक संख्या में उन की परितृप्ति हो सके—रिचर्डस् के अनुसार जीवन का—और कला का—यही ध्येय है।

जहां तक काव्य-जन्य सुख अथवा आनन्द का संबन्ध है रिचर्डस् के अनुसार उस की चर्चा व्यर्थ है । काव्य का उद्देश्य तो मानस सन्तुलन, मनोवेगों का सामंजस्य, स्नायविक संस्थान की अविकलता है । मनोवेग बीजावस्था से कर्म में पूर्ण प्रस्फुटन की ओर अग्रसर होता है तो सुख, आनन्द उस के विकास-मार्ग में पड़ने वाले आनुषंगिक तत्त्व-प्ररोह मात्र—हैं । सुख मनोवेग की सफल प्रवृत्ति का अनुषंग मात्र है—उस का सार-तत्त्व नहीं । मनोवेग अपनी तृप्ति चाहता है । आनन्द तो इस बात का सूचक मात्र है कि मनोवेगों का समाहार अथवा समन्वय हो गया है । इसी समन्वय अथवा सामंजस्य की अवस्था से काव्य का जन्म होता है और इस के सफल अनुशीलन से सहृदय भी सजातीय मनोदशा को प्राप्त होता है । सफल अनुशीलन की दशा में सहृदय अपने आप को जिस मनोदशा में पाता है उस का लक्षण है कार्य्योन्मुखता, कर्म की ओर अग्रसर होने की मनः प्रवृत्ति । यह प्रवृत्ति ही काव्यानुभूति का केन्द्रस्थ तत्त्व है । यह प्रवृत्ति सन्तुलन की अवस्था है ।

काव्य के सृजन और अनुशीलन के संबन्ध में रिचर्डस् की यह धारणाएँ भ्रामक हैं । यदि काव्य का उद्देश्य यह है कि उस के द्वारा मनोवृत्तियों और वेगों का समाधान हो तो यह उद्देश्य तो और भी कई प्रकार से सम्पन्न हो सकता है । विशेष आस्थायुक्त व्यक्ति धार्मिक प्रवचन से और व्यसनी व्यसन-सेवन से इस समाधान को प्राप्त कर सकता है । फिर काव्य की विशिष्टता क्या हुई ? वस्तुतः काव्य के फल को उस के बाहिर ढूँढना व्यर्थ है । काव्यानुभूति तो एक भावन-व्यापार है जिस में हम काव्यकार की सृष्टि का भावन करते हैं । यह भावन पदार्थ का भी हो

सकता है, व्यापार का भी और विचार का भी। विषम वेगों का समाधान, स्नायु-संस्थान की सुस्थता, इस केन्द्र-गत भावन व्यापार की महत्ता का अपलाप नहीं कर सकते। इस भावन व्यापार के स्वरूप पर हम ने पीछे विचार किया है।

रिचर्डस् इस बात से सहमत नहीं कि काव्य का उद्देश्य सुख अथवा आनन्द का संचार है। सुख अथवा आनन्द मनोवेगों के समन्वय का अनुषगी है—उस का स्वरूप नहीं। यह ठीक है काव्य का आनन्द विषयानन्द से भिन्न है। काव्यानन्द मनोरंजन का पर्याय नहीं हो सकता। परन्तु 'भावन व्यापार' 'रस' अथवा 'आनन्द' को विषयानन्द से आसानी से विविक्त किया जा सकता है। इस व्यापार का उद्देश्य न तो किसी कार्य्य का साधन है, न साधारण ज्ञान का संचय। यह इसी लिए व्यावहारिक अनुभव और दार्शनिक साधना से भिन्न है। इस में भावक का 'अहं' सब प्रकार के द्वन्द्वों से ऊपर उठ जाता है। इसी लिए इसे ब्रह्मानन्दसहोदर' कहा गया है क्योंकि दैनन्दिन अहंता-ममता से क्लिष्ट और संकल्प-विकल्प से विमथित अहं अपने कालबद्ध रूप से मुक्त हो जाता है। काव्यानन्द आनन्द तो है परन्तु विषयज आनन्द से भिन्न है।

किसी दार्शनिक के कार्य्य की आलोचना करते हुए यह कहना हास्यास्पद है कि हम उसकी मानसिक, स्नायविक स्थिति का अनुसन्धान करें। कोई कारण नहीं कि काव्यकार के कार्य्य को भिन्न धरातल पर रखा जाय। काव्यानुशीलन के मानसिक परिणाम हो सकते हैं, उन से स्नायविक वैकल्य का समाधान हो सकता है, वेगों में सामंजस्य विधान हो सकता है परन्तु ये काव्यानु-भूति के परिणाम हैं। परन्तु काव्य के आलोचक का साक्षात्

सम्बन्ध काव्यानुभूति के स्वरूप से है; उस के परिणामों से उस का सम्बन्ध गौण है ।

रिचर्डस् ने साहित्य के सृजन और मूल्याङ्कन की समस्या को प्रेरणा और परिणाम, "क्रिया" और "प्रतिक्रिया" के रूप में समझने की चेष्टा की है। किसी विशेष घटना, दृश्य अथवा व्यापार के कारण काव्यकार की अन्तर्वृत्तियां समाहित हो जाती हैं और यह आन्तर समाधान ही काव्य-सृजन में अपने आप को अभिव्यक्त करता है । यह अन्तर्वृत्तियां किसी भी प्रकार से समाहित हो सकती हैं । एक मनुष्य प्रकृति के उदात्तरूपों को देखकर, दूसरा मानव की चिरन्तन भावनाओं को मूर्त्त करने वाले मन्दिरों, भवनों को देखकर और तीसरा किसी कुकृत्य के द्वारा अपनी द्वेष-वृत्ति का तर्पण कर के आन्तर समाधान को प्राप्त कर सकता है। प्रश्न यह हैं कि क्या इन विविध मार्गों से प्राप्त मनोवेगों का सामंजस्य काव्य-प्रणयन में समर्थ है ? इसी प्रकार यदि काव्य का उद्देश्य इस सामंजस्य का सहृदय की ओर प्रेषण ही है तो जैसा कि हम ने पहले देखा है काव्य इस मनोदशा को संचारित करने वाले बहुत से साधनों—धार्मिक प्रवचन, शत्रु को गाली देना, स्वादु भोजन—में से एक है और उस की अपनी विशिष्टता लुप्त हो जाती है ।

रिचर्डस् के अनुसार कविता वह प्रेरणा है जिस के द्वारा यह मानस सन्तुलन निष्पन्न होता है। कविता कारण है और मानस सन्तुलन कार्य्य । यदि कविता के द्वारा स्नायु-संस्थान सुस्थ होता है तो यह समझ में नहीं आता कि किस प्रकार स्नायु-संस्थान की जड़ता चेतना में परिणत हो जाती है। हमारे लिए कविता भावित, कल्पित पदार्थ

होते हैं और अपनी यथार्थता की स्वीकृति के लिए निवेदन पत्र देते है। इन पदार्थों का ज्ञान व्यवहित ज्ञान है—इन्द्रियों के माध्यम से इन का ज्ञान होता है। इन को देखने के लिए चेतना आवश्यक है परन्तु जिस प्रकार दीपक को देखने के लिए दूसरा दीपक नहीं चाहिये उसी प्रकार चेतना अपने से इतर प्रमाण के द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती—विज्ञातारमरे केन विजानीयात्? वस्तुतः रिचर्डस् की चेष्टा है कि बिना प्रमाण के किसी भी तथ्य की सत्ता स्वीकृत न की जाय। परन्तु पूछा जा सकता है कि बहिर्जगत् की सत्ता का क्या प्रमाण है? क्योंकि हम उसे देखते हैं—क्योंकि इन्द्रियां हैं—इन्द्रियों की सत्ता का क्या प्रमाण है क्योकि मैं हूं, मुझे उन की प्रतीति हो रही है? मैं की सत्ता का क्या प्रमाण है। कोई प्रमाण नहीं। 'मैं अर्थात् चित् Consciousness—स्वतःसिद्ध है। बहिर्जगत् परतःसिद्ध है।

इन जटिलताओं में जाने की आवश्यकता इस लिए पड़ी क्योंकि रिचर्डस् ने अपना समस्त सिद्धान्त इस प्रकार के दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक तर्कों के आधार पर खड़ा किया है। वैज्ञानिक दृष्टि से अन्तरात्मा की सत्ता संदिग्ध हो सकती है परन्तु क्या स्नायविक प्रक्रिया से चेतना की उत्पत्ति कम संदिग्ध नहीं।

वस्तुतः स्नायविक-सुस्थता काव्यानुशीलन का फल हो सकती हैं परन्तु इससे काव्यानुभूति के स्वरूप पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता। रिचर्डस् ने अनुभूति और उस के परिणाम के अन्तर को स्पष्ट करने में सफलता प्राप्त नहीं की। काव्यानुभूति में हम वस्तुतः भावना के जगत् में विचरण करते हैं—मनोवेगों का सामंजस्य इस विचरण का—भावित पदार्थों

की प्रतीति का—आनुषंगिक परिणाम हैं। मूलतत्त्व तो यह भावना अथवा कल्पना-जन्य अनुभव है जो बहिर्जगत् की घनता को विगलित कर के एक नूतन जगत् का निर्माण भी करता है और ग्रहण भी। इस भावना-जन्य अनुभूति को छोड़ कर स्नायविक स्वास्थ्य, मानस वेगों के सामंजस्य में भटकने से काव्यानुभूति शिथिल हो जाती है। उस की विशिष्टता का विलोप होता है क्योंकि मन का समाधान तो दूसरे साधनों से भी हो सकता है परन्तु काव्यानुभूति वह भावना जन्य अनुभूति है जिस की उपलब्धि शब्दों के माध्यम से होती हैं। इस का मूलतत्त्व कवि द्वारा भावित जगत् का दर्शन है। काव्यकार ने अपनी भावना के आतिशय्य से नूतन जगत् का निर्माण किया है। यदि वह विदग्ध है तो अपनी कला के गौरव से हमें भी अपने साथ सर्जक बना देता है, इस नूतन जगत् को देख कर हमारे हृदय में भाव उद्वेलित हो सकते हैं, विषम वेगों का सामंजस्य हो सकता है, स्नायविक स्वास्थ्य की प्राप्ति हो सकती है परन्तु इन सब का कारण- 'दर्शन' है—उस जगत् का दर्शन कवि प्रतिभा जिस की जननी हैं। काव्यकार इस प्रकार से प्रणेता, सर्जक, निर्माता है, मानसिक विषमताओं का समाधाता नहीं

रिचर्डस् के अनुसार काव्य और उस के मूल्य गौण हो जाते हैं। स्नायविक स्वास्थ्य, मनोवेगों का समन्वय नैतिक आदर्श हैं जिनकी पूर्ति के लिए काव्य एक उपकरण मात्र है।

रिचर्डस् अपने मनोवैज्ञानिक आग्रह के कारण काव्य की उपयोगिता के प्रश्न पर विचार करते हुए स्खलित हुआ है। वैसे तो रिचर्डस् के अनुसार कविता धर्म आदि को अपदस्थ करके आधुनिक जगत् की नेत्री और विधायिका बनने के योग्य है परन्तु इस धारणा का समाधान रिचर्डस् में

ठीक प्रकार से नहीं तो सका। रिचर्डस् के अनुसार काव्य की भाषा का उद्देश्य तो भावों का उद्बोधन है सत्य का निर्देशन नहीं। इस विषय पर हम पीछे विचार कर चुके हैं। उस के अनुसार सत्य का अनुसन्धान तो विज्ञान के द्वारा होता है। काव्य का सत्य विज्ञान अथवा न्याय अथवा तार्किक उपपत्तियों द्वारा उपलब्ध सत्य नहीं। परन्तु काव्य को सत्य से सर्वथा विच्छिन्न कर देने से—अर्थ गौरव से वंचित करने से—वह मानव के त्राता के रूप में धर्म का स्थान कैसे ले सकता है यह समझना कठिन है। वस्तुतः भाव और मनोवेग सदैव अपने से भिन्न किसी विषय—बाह्य या आन्तर स्थिति, व्यापार आदि—की ओर निर्देश करते हैं। यदि मैं प्रसन्न हूं तो अपने परिस्थिति का मूल्यांकन करके ही प्रसन्न हो सकता हूं। यदि खिन्न हूं तो भी मेरी मनःस्थिति का आधार बहिर्जगत् अथवा अपने सम्बन्ध में मेरी धारणा ही है। यदि मेरे मनोवेगों का सामंजस्य हुआ है तो किसी प्रतीति के कारण, किसी दर्शन अथवा नूतन आभास के कारण। अपने आपमें निरवलम्ब हो कर—विषय-जगत् का मूल्याङ्कन किए बिना—किसी भी भाव का अस्तित्व संभव नहीं।

काव्य का उद्देश्य रिचर्डस् के अनुसार प्रवृत्तियों का संव्यूहन अथवा संगठन है। जिस संगठन में जितना संतुलन होगा वह उतना ही वरेण्य होगा। सहृदय को यह संतुलन काव्य से प्राप्त होता है, परन्तु काव्यकार को किसी दृश्य, पदार्थ, व्यापार विशेष से। रिचर्डस् के अनुसार इस सन्तुलन को प्राप्त कर लेने पर काव्यकार अकारण ही लोकोत्तर प्रेरणा, दिव्य उन्मेष, ईश्वर आदि को इस का कारण समझता है। लेकिन इस आस्था का जन्म

मानसिक सन्तुलन से होता है न कि किसी बहिःस्थ लोकोत्तर तत्त्व से। इस प्रकार भी रिचर्डस् काव्य को सत्य से विच्छिन्न कर देता है परन्तु वस्तुस्थिति क्या है ? क्या रामायण वाल्मीकि के मनःसन्तुलन की परिणति है। रामायण जैसे उदात्त काव्य के प्रणेता का मन तो अवश्य संतुलित होगा परन्तु रिचर्डस् के अनुसार इस मनोयोग का कारण कुच्छ भी हो सकता है—आवश्यक नहीं कि राम के जीवन की उदात्तता से उस ने प्रेरणा ग्रहण की हो। वस्तुतः राम के जीवन में वाल्मीकि ने मानवोत्तर निष्ठा को देखा और फिर अपनी भावना से इस जीवन को नव्य रूप में भावित करके अपने काव्य को लिखा । रामायण वाल्मीकि की भावना की प्रसूति है। रामायण में वाल्मीकि की आस्थाएँ स्पष्ट हैं। उन के लिए जो जीवन वास्तव है उसी का उन की भावना ने दर्शन किया है। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्यक्ष रूप में कवि अपनी आस्थाओं का अभिव्यक्त करे। निरन्तर भावना से वह जिस लोक में रमण करता है उस की भारती उसी की प्रतिकृति का निर्माण करती है । रिचर्डस् का कथन है कि मनःसन्तुलन की अवस्था से आस्थाओं का जन्म होता है । प्रवृत्तियों के संगठित, सुव्यवस्थित हो जाने पर यदि कवि ईश्वर की विभूतियों पर कविता लिखता है तो इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी यह आस्था सत्य है। सत्य तो वेगों का समन्वय ही है।यह समन्वय अपने आप को किसी भी प्रकार के बाह्य निर्देश अथवा विषय पर अवलंबित कर सकता है जैसे बहुत सी खूँटियों में से हम किसी पर भी कोट को लटका सकते हैं। ईश्वर की विभूतियों की बजाय वह अपने इस मानस समाधान की अवस्था को मक्खियों की भनभन पर कविता लिखकर

भी व्यक्त कर सकता था। इस प्रकार कविता जिस विषय की ग्रोर निर्देश कर रही है वह तुच्छ हो जाता है। वस्तुतः सत्य का सारा क्षेत्र विज्ञान को दे देने से काव्य का गौरव बाधित होता है। प्रवृत्तियों का समन्वय ग्रपने ग्राप में मूल्यांङ्कन के मान हमें नहीं देता। एक विशिष्ट प्रकार का समन्वय दूसरे विशिष्ट प्रकार के समन्वय से कैसे श्रेष्ठ है—इस बात का निर्णय ग्रान्तरिक समाधान के ग्राधार पर नहीं हो सकता—वस्तुस्थिति की सत्यता जिस के ग्रहण ग्रौर स्वीकरण से समन्वय की प्राप्ति हुई है हमें वह मान दे सकती है। भावना के केन्द्रस्थ महत्त्व को स्वीकार करने से हमें कविता के सत्य के सम्बन्ध में कई प्रकार की भ्रान्तियों से मुक्ति मिलती है। भावना हम उसी की कर सकते हैं जिसे हम वास्तव समझते हैं। भावना चित्त का ग्रनर्गल विचरण नहीं जो इन्द्रिय—प्रत्यक्षों को उसी प्रकार बनाता बिगाड़ता है जैसे बालक बालुका गृहों को बनाते बिगाड़ते हैं। काव्य की सत्यता का निर्णय वैज्ञानिक मानदण्डों के ग्रनुसार नहीं हो सकता। विज्ञान ग्रनुभव को व्यवस्थित करने की एक पद्धति है, काव्य दूसरी। जिस जगत ग्रथवा दृश्य को कवि की भावना ने साकार किया है वह उस के लिए सत्य ही है। जब तक काव्यकार उसकी सत्यता को स्वीकार नहीं कर सकता उसकी ग्रभिव्यक्ति में वह क्षमता नहीं ग्रा सकती जो उसकी ग्रनुभूति को दूसरों के लिए भी सजीव करदे। निरन्तर भावन से चरित्रयोग की वास्तविकता वाल्मीकि के लिए प्रत्यक्ष हुई। इसी से उन के राम में मानव—ग्रास्था के उन प्राणवान् तत्त्वों का समावेश हुग्रा जो ग्राज भी हमारे लिए ग्रालोक-स्तम्भ है। जो कवि के मानस का सत्य है वह प्रकृति का सत्य भी है क्योंकि मानव का मन भी नदी पर्वत की तरह प्रकृति का ही ग्रंश है।

साहित्य और समाज

साहित्यकार अपनी भावना के बल से उन बिम्बों, छवियों और मूल्यों का सृजन करता है जो समाज के सांस्कृतिक जीवन के प्राण हैं। उस के व्यापार के बिना किसी भी समाज की संस्कृति में अन्विति और सातत्य का विधान नहीं हो सकता। ऐतिहासिक राम का रूप जो भी रहा हो, भारतीय समाज के सांस्कृतिक जीवन को भास्वर करने वाले राम के जीवन की अनिर्वाप्य अग्नि-शिखा एक कवीन्द्र ने जलाई और दूसरे कवियों की प्रतिभा ने उस को प्रज्वलित रखा। व्यक्ति की तरह समाज का जीवन भी भावना-स्पन्द पर निर्भर है। और इस भावना को स्फूर्त्त करने वाले साधनों में साहित्य का विशेष स्थान है। भावना के स्फूर्त्त होने पर मनुष्य पाशव स्तर से उठ कर सांस्कृतिक मूल्यों के दर्शन, सृजन और प्रतिष्ठान में लगता है। रामायण और महाभारत का जीवन-दर्शन, मूल्य-भावना, श्रेय की मीमांसा, भारतीय मानस में

परिव्याप्त हैं। इस कोटि के साहित्यकार जीवन के उन्नायक है। वे संस्कृति का निर्माण बौद्धिक आलोचना के द्वारा नहीं भावना के समिंधन से करते हैं। इस का अर्थ यह है कि वे 'मूल्यों' के स्रष्टा और दर्शयिता नहीं, उनके प्रति राग को भी उन्मीलित करते हैं।

काव्य व्यक्तिगत जीवन को समृद्ध करता है और समाज की मानसिक समृद्धि व्यक्ति की समृद्धि के साथ सम्बद्ध है। काव्य का जन्म कल्पना और भावना में होता है जैसा कि हम ने ऊपर देखा है। हम ने यह भी देखा है कि इस भावना शक्ति के अवसन्न अथवा शिथिल होने का अर्थ है जीवन का हीन—सत्त्व हो जाना। मानस की सृजनात्मक शक्ति के शिथिल होने से हम वाह्य व्यापारों और वस्तुओं के प्रवाह में तृण के समान निःस्व हो कर बहने लगते हैं। हम में वाह्यजगत् का 'मूल्याङ्कन' करने की शक्ति नहीं रहती, चेतना में एक कार्पण्य सा आ जाता है जिस के कारण या तो हम स्थूल पदार्थों की विपुलता से मानस रिक्तता को भरना चाहते हैं, अथवा किसी उग्र मतवाद के शिकार हो जाते हैं जिस के कारण दूसरों के दृष्टिकोण को समझने की शक्ति नष्ट हो जाती है—अथवा विचार और भाव-जगत् के सारे वैभव को मन का उद्वेग मात्र समझ कर स्थूल भोगवाद के प्रति आत्म-समर्पण कर देते हैं। चेतना की इस दरिद्रता का प्रतिकार करने वाले भी समाज में होने चाहिएँ। शरीर के रोग शरीर की दरिद्रता से उत्पन्न होते हैं। उन के उपचार के लिए वैद्य हैं। इसी प्रकार समाज में रुग्ण चेतना को स्वस्थ करने का कार्य्य दार्शनिक, आत्मवेत्ता, और कलाकार करते हैं। वह काव्य भी समाज में मिलता है जो चेतना में विकृतियों को

उत्पन्न करता है । परन्तु "नीम हकीमों" के समान उस की स्थिति भी समाज में विद्यमान अज्ञान अथवा अक्षमता के कारण होती है ।

साहित्यकार बाह्य जगत् को वैसे ही चित्रित नहीं कर देता जैसा कि वह देखता है । वह इसीलिए साधारण अर्थों में अनुकर्ता न हो कर सर्जक है । उस की कृति में और बाह्य वास्तविकता में बिम्ब-प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध नहीं । जिस प्रकार काव्यकार का विषय उस की कल्पना और भावन-शक्ति का उन्मीलयिता है उसी प्रकार समाज के लिए उस की कृति चेतना को उजागर करने वाली है । सहृदय के मानस में जो संस्कार हैं वे प्रबुद्ध होते हैं और अपनो अपनी सरणियों पर चलते हुए नवीन रूप धारण करते हैं । जिस प्रकार आकाश में विचरण करते हुए बादल नवीन और अप्रत्याशित रूपों को धारण करते रहते हैं जिन के सम्बन्ध में हम कुच्छ नहीं कह सकते उसी प्रकार हम यह नहीं कह सकते कि काव्यकार की अनुभूति किस मानस में किस परिणति को प्राप्त होगी । फिर भी इन परिणतियों में सन्धायक सूत्र रहता है जिस प्रकार भिन्न भिन्न रूपों को धारण करते हुए भी बादल मूलतः एक तत्त्व की भिन्न परिवृत्तियां हैं ।

विज्ञान के आविष्कारों ने आधुनिक चेतना को अभिभूत सा कर लिया है । ऐसे समाज में जहाँ विज्ञान-सम्मत 'मूल्य' अथवा आस्थाएँ जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण की विधात्री बनती हैं, साहित्य का स्थान उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रहता विशेषतः ऐसे साहित्य का जिस का उद्देश्य मानव मन की उन विधाओं को मूर्त्त करना है जो विज्ञान के लिए परोक्ष और दुष्प्राप्य

हैं। विज्ञान के आविष्कारों—रेडियो और टेलिविज़न आदि—का भी साहित्य पर प्रभाव पड़ना आवश्यक है—क्योंकि रेडियो और टेलिविज़न का उद्देश्य भी 'अनुभूति' का संप्रेषण है। परन्तु जिस कोटि के प्रोग्राम अधिकतया रेडियो से प्रसारित होते हैं उन के द्वारा चेतना की समृद्धि नहीं होती, उन्हें सर्वसाधारण धरातल पर प्रतिष्ठा अवश्य प्राप्त होती है। विज्ञान के द्वारा शासित समाज में ऐसी अनुभूतियों का साधारणीकरण संभव नहीं जिन का उद्गम-स्थल आध्यात्मिक है। ऐसा समाज अनिवार्यतया उपयोगितावादी बन जाता है। उपयोगितावादी बनने में कोई हानि नहीं—अध्यात्म और कविता की अपनी उपयोगिता है परन्तु इस सन्दर्भ में उपयोगी का अर्थ है मनुष्य के स्थूल ऐन्द्रिय व्यक्तित्व के लिए उपयोगी। जहां प्राचीनों के स्वस्थ दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्य का स्वरूप मन, इन्द्रिय, बुद्धि आत्मा से निष्पन्न होता था वहां हम बुद्धि और आत्मा को इन्द्रियों और भोग-परक मन के वेगों से व्यतिरिक्त करके देख ही नहीं सकते।

जैसा कि हम ने देखा है मानव समाज साहित्यकार के परिवेश का एक अंग हैं। जिस प्रकार प्रकृति उस के परिवेश का अंग है उसी प्रकार समाज भी। यदि किसी प्राकृत पदार्थ—नदी अथवा पर्वत—पर कविता लिखने वाले साहित्यकार से हम उस पर्वत और नदी का वैसा यथातथ्य विवरण नहीं माँगते जो भूगोलशास्त्र का पण्डित ही दे सकता है, तो कोई कारण नहीं कि हम साहित्यकार से समाज का यथातथ्य चित्रण मांगें। उत्तम साहित्यकार 'सामाजिक यथार्थ' का अनुकरण नहीं सृजन करता है।

शब्दों की काव्य से अलग अपनी स्वतन्त्र सत्ता है जैसा कि हम शब्द कोशों में देख सकते हैं। कविता में प्रयुक्त वही शब्द एक अर्थ-समष्टि का अंश मात्र है। विदग्ध कलाकार साधारण शब्द के प्रयोग से उसमें ऐसा सौन्दर्य्य भर देता है जो उसकी कोषगत सत्ता में नहीं मिलता इसी प्रकार साहित्य में वर्णित सामाजिक व्यापार का वही अभिप्राय और मूल्य नहीं जो समाचार पत्र में वर्णित उसी व्यापार का है। यदि 'यथार्थवादी' उपन्यास की यथार्थवादिता पत्रकार की यथार्थवादिता के समान रिपोर्ट देने में ही है तो ऐसा उपन्यास साहित्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता। साहित्य का उद्देश्य तो चेतना के भावनात्मक पक्ष को समृद्ध करना है। इस प्रकार की कविताएँ और उपन्यास भी बहुत संख्या में मिल जाते हैं जिन का उद्देश्य हमें किसी विशिष्ट मतवाद अथवा आचरण की ओर प्रवृत्त होने की प्रेरणा देना है परन्तु उन का स्थान उच्च कोटि के साहित्य में नहीं। साहित्य के प्राण तो अनुभूति की रमणीयता में हैं, विषय के समाज-परक अथवा व्यक्ति-परक होने में नहीं।

आधुनिक युग के यान्त्रिकता से शासित मानव-समाज और साहित्य का क्या संबन्ध है। इस प्रकार के समाज में मज़दूर को अपने कार्य्य में रुचि नहीं होती। उस का कार्य्य उस के लिए उद्वेजक हो जाता है। यान्त्रिक कार्य्यों में हमारी नैसर्गिक शक्तियाँ अभिव्यक्ति नहीं पा सकतीं। व्यास और शेक्सपियर यह न कहते कि हम ने अब छः अथवा आठ घण्टे लिख लिया है अब और नहीं लिखेंगे। उन के कार्य्य और आत्मा में जन्य जनक का सम्बन्ध है। उन का कार्य्य उन के मन की प्रतिच्छाया है। परन्तु कारखानों में

मशीनों की देखभाल में लगे हुए और छोटे कलपुर्जे बनाने वाले मज़दूर को अपने कार्य्य में तृप्ति नहीं मिल सकती। आधुनिक युग में इसीलिए मनोरंजन एक उद्योग बन गया है। फ़िल्म, समाचार-पत्र और उपन्यासों की बहुसंख्या दिवा-स्वप्नों का ही वितरण करती है। ये मानस के स्वस्थ उन्मेष के मार्ग में बाधक हैं। दिवा-स्वप्न अस्वस्थ मन का व्यापार हैं। उपन्यासों में यान्त्रिक संस्कृति की विषमताओं से विडम्बित लोग उस रोमाञ्च को प्राप्त करते हैं जो उन के कुण्ठित जीवन को कृत्रिम रूप से रंजित कर देता है। अवचेतन की पिपासा और क्षुधा, उन्मुक्त और अकुण्ठ जीवन की लालसा ऐसे उपन्यासों से तृप्त होती है। क्षण भर के लिए वे अपने अवसन्न जीवन की कदर्थना से निकलकर उन स्वप्नवीथियों में घूम लेते हैं जहाँ रूप, गन्ध और राग के उद्रिक्त वैभव में मन उन्मद हो उठता है।

इस में कोई सन्देह नहीं कि पुरातन साहित्य में भी सामाजिक दृश्य की उपेक्षा नहीं। रामायण, महाभारत अभिज्ञान शाकुन्तल, रामचरितमानस—सभी में सामाजिक तथ्यों की स्वीकृति है, और तत्कालीन समाज के सम्बन्ध में उनसे प्रचुर ज्ञान-राशि उपलब्ध हो सकती है। परन्तु इन में और आधुनिक मार्क्सवादी में यह अन्तर है कि ये व्यक्तिगत प्रतिभा और दर्शन का तिरस्कार नहीं करते और न ही यह समझते हैं कि सामाजिक यथार्थवादी की योजना का अनुसरण करने से मानव के ऐहिक दुःख का अवसान हो जायगा।

समाजवादी साहित्यिक कृति की निष्पत्ति के कारणों की खोज करता है वह इस प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा करता है 'अमुक कृति ने अमुक स्वरूप क्यों धारण किया'। परन्तु वह विज्ञान की कारण सम्बन्धी धारणा को

साहित्य में भी प्रयोजनीय मानता है—यह भ्रान्ति है। हमारे सामने तो प्रश्न है कि साहित्यिक कृति क्या है—उस की प्रभविष्णुता के क्या उपादान हैं ? साहित्यिक कृति प्रत्यक्ष, अव्यवहित रूप में हमें प्रभावित करती है—किसी सामाजिक तथ्य की स्वीकृति अथवा निराकृति के कारण नहीं। साहित्यिक कृति में भावना भावना को संबोधित करती है । साहित्य में कई 'मूल्यों' का संग्रथन रहता है और सामाजिक तथ्य उस की बहुविधता का एक अवयव है।

व्यक्तिगत भावना का प्रयोग किसी सामाजिक सिद्धान्त को उदाहृत करने के लिए ही नहीं किया जाता । समस्त सामाजिक वास्तविकता किसी के लिए भी हस्तामलकवत् नहीं होती। यह वास्तविकता कई शक्तियों का संगम और संघर्षस्थल है और व्यक्ति की भावना इन शक्तियों में से एक है । समाजवादी, मनोविज्ञानवादी, दार्शनिक, धर्माचार्य इन शक्तियों के प्रसंजन, व्यापार और संघर्ष का नाना प्रकार से व्याख्यान करते है।

व्यक्ति की, उस की प्रतिभा की, जीवन के प्रति उस के दृष्टिकोण की उपेक्षा करने से साहित्य का मर्म नहीं पाया जा सकता। एक ही परिवेश में एक व्यक्ति वेदान्ती है, दूसरा कम्युनिस्ट है तीसरा चार्वाक का अनुयायी है, चौथा फ्रायड का अनुगामी है। यदि कम्युनिस्ट दृष्टिकोण चेतना और परिवेश के आदान-प्रदान का परिणाम है तो दूसरे दृष्टिकोणों के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। पलायनवाद का नारा लगाने से समस्या सुलझ नहीं जाती । यदि आन्तरिक जगत् का अन्वेषक बाह्य वास्तविकता से पलायन कर रहा है तो बाह्य जगत् में

आपादमस्तक रत व्यक्ति के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि वह अन्तर्जगत् की समस्याओं से या तो अनभिज्ञ है या उन से पलायन कर रहा है। दोनों दशाओं में वह दृष्टि-विकल है। क्या गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाला ब्रह्मचर्य से पलायन कर रहा है या दूसरी अवस्था नैसर्गिक विधान की स्वीकृति है? एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाना यदि पलायन है तो मानव-मात्र पलायनवादी है क्योंकि प्रकृति भी हमें इस की अनुमति नहीं देती कि सदैव एक ही अवस्था में रहें। भावन व्यापार भी मनुष्य के लिए उतना ही नैसर्गिक है जितनी कर्म रति। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों आवश्यक हैं। पलायनवाद पर विचार करते हुए हमें यह पूछना चाहिये कि हम चेतना की निम्न, क्षिप्त अवस्था से समाहित अवस्था की ओर जा रहे हैं या विक्षेप और विकलन की वृद्धि कर रहे हैं?

वस्तुत: मनोवैज्ञानिक तथ्यों की तरह सामाजिक तथ्य भी साहित्यकार की सृजनात्मक भावना के लिए सामग्री मात्र हैं। विचार, भाव, छन्द, शब्दावलि आदि के समृद्ध संव्यूहन में उन का क्या स्थान होगा इस का निर्धारण साहित्यकार की प्रतिभा ही करती है।

साहित्य और समाज की समस्या को साम्यवादी आलोचना-शास्त्र ने बड़े गम्भीर रूप में उठाया है। हमें इस पर कुच्छ और विचार करना चाहिए।

कम्युनिज़्म साहित्य और समाज में किसी प्रकार का विच्छेद देखने के लिए तय्यार नहीं। कम्युनिज़्म के 'आलोचना शास्त्र' में वह साहित्य गर्ह्य है जो यथार्थ का प्रतिफलन नहीं करता। सामाजिक यथार्थ क्या है—इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है परन्तु कम्युनिस्ट आलोचक इस सम्बन्ध में

असंदिग्ध है। उस के लिए कम्युनिज़्म अथवा 'साम्यवाद' की स्थापना अनिवार्य है। विश्व में जितनी शक्तियां संघर्ष कर रही हैं उन में साम्यवाद की शक्ति दुर्दम है। साम्यवाद की भविष्य के साथ मैत्री है। अन्ततोगत्वा विश्व के समस्त व्यापार उसी की ओर प्रवृत्त हो रहे हैं। टैनिसन के शब्दों में यह वही दूरस्थ, दिव्य निष्पत्ति है जिस की ओर समस्त सृष्टि जा रही है (The one far off Divine moment to which the whole Creation moves)। समाजवाद की ओर इस अवार्य प्रगति का चित्रण ही साहित्यकार का उद्देश्य है। यह प्रगति ही यथार्थ है और इस को प्रतिफलित करने वाला साहित्य ही यथार्थवादी साहित्य है।

समाजवाद का आग्रह है कि साहित्य को यथार्थ का वाहक बनना है। परन्तु यथार्थ का प्रश्न बड़ा विकट है। सामाजिक यथार्थ की भी परिभाषा आसान नहीं। यदि सोवियत समाजवाद साहित्य में सामाजिक यथार्थवाद का प्रतिफलन चाहता है और सामाजिक यथार्थवाद की एक विशिष्ट परिभाषा देकर उसी परिभाषा के अनुसारी साहित्य का अभिनन्दन करता है तो हम Art और Morality की जटिल समस्या के साथ फिर यहां दो चार होते हैं। जिस प्रकार किसी धर्म-सम्प्रदाय का कट्टर अनुगामी इस संवन्ध में स्पष्ट है कि कौन सा विषय साहित्य में विधेय है और कौन सा नहीं—वह उसी साहित्य को धन्य मानता है जो उस के संकुचित दृष्टिकोण का पोषक है, उसी प्रकार एक विशिष्ट मतवाद के अनुसरण को धर्म्य और दूसरों को वर्जनीय मानना साहित्य के स्वस्थ विकास को बाधित कर देता है।

प्रश्न पुराना है। क्या हम काव्यकार को वाधित कर सकते हैं कि वह जीवन और जगत् के प्रति एक विशिष्ट मतवाद, धार्मिक अथवा सामाजिक चिन्तन प्रणाली को अपनाए। जिस प्रकार सोवियत यथार्थवाद अथवा समाजवाद को काव्य से बहिष्कृत करने के लिए काव्यकार को बाध्य नहीं किया जा सकता उसी प्रकार उसे अपनाने के लिए भी कवि को विवश नहीं किया जा सकता। यदि इस विशिष्ट प्रकार के यथार्थवाद अथवा समाजवाद ने उस की चेतना को अधिकृत कर लिया है, उस की बुद्धि को उस में आलोक और हृदय को ऊष्मा का अनुभव होता है, यदि बारम्बार भावन से इस प्रकार के समाज का सौन्दर्य्य उस के चित्त में व्याप्त हो चुका है तो उसे पूरा अधिकार है कि अपनी वाणी द्वारा अपनी उस भावना को मूर्त्त करे। स्पष्ट है हम यहां समाज़वाद अथवा और किसी वाद का न तो समर्थन कर रहे हैं और न ही विरोध। अन्ततोगत्वा उसी विषय को साहित्य और कला में सशक्त अभिव्यक्ति मिल सकती है जो भावना के साथ एकाकार हो चुका है—जिसे हम "वास्तव" मानते हैं।

केवल आदेश मात्र से चेतना को वह स्पन्द प्राप्त नहीं होता जिसे हम भावना का नाम देते है। समाजवाद के साहित्य अथवा कला का मूल्यांकन उन्हीं मानों के अनुसार होना चाहिए जिन के अनुसार वैष्णव अथवा बौद्ध कला और साहित्य का होता है क्योंकि दोनों के मूल में 'दर्शन' है—भावना द्वारा साक्षात्कृत जीवन का रूप है, मानव की स्थिति का पर्यालोचन है, कर्म की अर्थवत्ता है। सोवियत समाजवाद, इस्लाम, क्रिश्चियेनिटी आदि की परम्परा में पड़ने वाला एक नूतन मतवाद है

जिस के अपने धर्म-प्रणेता हैं, पुरोहित हैं, कर्म-काण्ड है, और दूसरे को दीक्षित करने के लिए, सधर्मा बनाने के लिए, मध्य-युग का आवेश अथवा उत्साह है।

यह कहना पर्याप्त नहीं कि आधुनिक युग में संघर्षरत-शक्तियों में समाजवाद की पोषक शक्तियां ही सब से अधिक प्रभविष्णु हैं। इस लिए कलाकार और साहित्यकार को केवल उसी प्रकार की कला का सृजन करना चाहिये जिस से समाजवाद के विजयी अभियान का पता चले। परन्तु यह कथन सच भी हो सकता है और झूठ भी। इस तथ्य को भावना में पचाने से ही वह अनुभूति में परिणत होता है। भावित होने पर पहले जो कुच्छ सार्थक ध्वनियों का समुच्चय था 'वास्तव' बन जाता है। मानव समाज का कल्याण निःसन्देह इस में है कि समाजवाद द्वारा ध्यात उद्देश्य की सिद्धि हो। परन्तु तथ्य के कह लेने अथवा सुन लेने मात्र से कला का सृजन नहीं होता।

यदि 'वस्तु तत्त्व' से वह सत्ता अभिप्रेत है जिस की स्थिति द्रष्टा से सर्वथा निरपेक्ष हो तो ऐसी सत्ता तो विज्ञान के क्षेत्र में भी नहीं मिल सकती। वैज्ञानिक अनुभूति में भी प्रमाता और प्रमेय, अहं और इदं दोनों की स्थिति रहती है, यद्यपि विज्ञान के 'अहं और इदं' काव्य के 'अहं और 'इदं' से भिन्न होते हैं। यदि सोवियत समाजवाद का यह आग्रह है कि साहित्य को यथार्थवादी होना चाहिये तो हम इस से सहमत हैं। परन्तु यथार्थ का ग्रहण और प्रतिफलन कलाकार द्वारा उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार दर्पण द्वारा किसी पदार्थ का। कलाकार निश्चेष्ट ग्रहीता नहीं। इस स्थिति को समझते सुए साम्यवादी आलोचकों का कहना है कि सामाजिक दृश्य में जो शक्तियां

और प्रवृत्तियां कार्य कर रही हैं उन में से कलाकार को उन्हीं का अनुशीलन, चयन और प्रतिफलन करना चाहिये जो समाजवाद की विजय की ओर संकेत कर रही हैं। यदि समग्र दृश्य में से कुच्छ आभासों को चुन कर ही समाजवादी साहित्य का स्वरूप प्रतिपन्न होता है तो सामाजिक दृश्य के उपेक्षित तत्त्व तथा-कथित यथार्थवाद को विकलाङ्ग कर देते हैं। जब सम्पूर्णता का ग्रहण अभीष्ट ही नहीं तो यथार्थवाद कैसा ? यदि सम्पूर्णता अपनी प्रवृत्ति, प्रगति में समाजवाद की विजय की ओर संकेत कर रही है तो वर्तमान में तो इस विजय में विश्वास करना उसी प्रकार श्रद्धा का कृत्य है जिस का उपदेश हमें प्राचीन धार्मिक परम्पराएँ देती हैं।

साहित्य को आर्थिक परिस्थितियों का कार्य्य नहीं माना जा सकता। मार्क्सवाद के अनुसार आर्थिक व्यवस्था ही साहित्य की विधायक है। आर्थिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था को और सामाजिक व्यवस्था साहित्य को नियन्त्रित करती है; इस प्रकार साहित्य की विशेषताओं का अन्तिम समाधान आर्थिक व्यवस्था के अनुसन्धान से ही हो सकता है। साहित्य की वास्तव विधायक तो प्रतिभा है, मनुष्य की भावन शक्ति है। आर्थिक शक्तियों का प्रभाव तो समाज के सभी सदस्यों के लिए एक जैसा है फिर क्या बात है कि कालिदास, रवीन्द्र और शेक्सपियर अधिक संख्या में उत्पन्न नहीं हुए। यदि कलात्मक उन्मेष आर्थिक विभव पर ही निर्भर है तो आर्थिक दृष्टि से अविकसित अथवा शोषित और प्रताड़ित समाज में प्लेटो (प्राचीन ग्रीक समाज) और रवीन्द्र (आधुनिक भारत का शोषित समाज) जैसी विभूतियों का उदय असम्भव था। मार्क्सवादियों की

समालोचना सामाजिक परिस्थितियों का विवरण बन कर ही रह जाती है साहित्य की विशिष्टता को नहीं छूती। साहित्य की विशिष्टता की खोज तो साहित्यकार की प्रतिभा के विश्लेषण से हो सकती है। अर्थ और समाज के प्रभाव को स्वीकार किया जा सकता है परन्तु अर्थ और समाज को कारण और साहित्यकार की सृजन प्रतिभा को कार्य्य नहीं माना जा सकता। अर्थ और समाज यदि शक्तियाँ हैं तो काव्यकार की सृजनात्मक प्रतिभा भी शक्ति है और यह सृजनशक्ति जितनी ही प्रोन्नत होगी काव्य उतना ही उत्तम होगा। आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाएँ ऐसी प्रतिभा के लिए सामग्री मात्र, उपादान कारण ही हैं उसी प्रकार जैसे मिट्टी घड़े का उपादान कारण है। परन्तु निमित्त कारण तो जैसे कुम्हार है वैसे ही साहित्यकार।

एक ही प्रकार की परिस्थितियों के प्रति दो व्यक्तियों की भिन्न भिन्न प्रतिक्रियाओं को देख कर इस भिन्नता का कारण उन के व्यक्तित्व अर्थात् चेतना में ही ढूँढना पड़ेगा। जिस प्रकार भूमि, जल और धूप पौधे के प्रस्फुटन के लिए आवश्यक तो हैं परन्तु उस के 'कारण' नहीं, कारण तो वह उद्भेद-शक्ति ही है जो बीज में सम्पुटित है उसी प्रकार साहित्यकार की प्रतिभा के विकास में आनुषङ्गिक परिस्थितियों का हाथ आनुषंगिक रूप में हो सकता हैं परन्तु इस से सृजनात्मक प्रतिभा का महत्व क्षुण्ण नहीं होता। अधिष्ठात्री तो यह प्रतिभा ही है। कई बार बाह्य-परिस्थितियों का प्रभाव साहित्य पर असंदिग्ध रूप से दिखाई देता है और साहित्यकार शुकवत् अपने परिवेश की धारणाओं की पुनरावृत्ति कर देता है। वहाँ हम यही कहेंगे कि इसका कारण चेतना का अवसाद है, सृजनात्मक

प्रतिभा की विकलता है। जब कल्पना इस प्रकार श्लथांग हो जाती है तो काव्यकार निश्चेष्ट दर्पण के समान अपने परिवेश को प्रतिफलित अथवा प्रतिध्वनित कर देता है।

यह तो स्पष्ट है कि आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाओं में काव्यकार के मन:संस्थान के कारणों को नहीं ढूंढा जा सकता क्योंकि जैसा कि ऊपर कहा गया है इस से एक ही सामाजिक सन्दर्भ में भिन्न भिन्न प्रकार के मनः संस्थानों की स्थिति असंभव हो जाती है। वस्तुत : परिवेश से सीधे ही कलाकृति की ओर जानेवाला कोई मार्ग नहीं। परिवेश के समझने से कलाकृति के मर्म का ग्रहण नहीं हो सकता। जिस प्रकार शरीर के विश्लेष से प्राणतत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती वैसे ही कालिदास की कृतियों में प्रतिफलित परिवेश की समस्त विशेषताओं के परिगणन से भी उस के काव्य की मनोग्राहिणी सुषमा का भेद खुलता नहीं। यह भेद तो कालिदास की भावना में है, उस की सृजनात्मक प्रतिभा में ही उस के काव्य के सौन्दर्य्य का मूलोद्भव है। यह प्रतिभा तत्कालीन परिस्थितियों की प्रसूति है तो उस काल में अनेक कालिदासों का जन्म होना चाहिए था। जहां तक देखने का सम्बन्ध है, जड़ मतिमन्द भी उन्हीं रूपों को देखता है जिन्हें दार्शनिक और काव्यकार, शेक्सपियर और कालिदास, देखते हैं। भेद इतना ही है कि कल्पना का जो पारस साहित्यकार के पास है वह मन्दधी व्यवहारज्ञ के पास नहीं।

मानवमन की विपुल समृद्धि के कारणों को सामाजिक परिवेश में उपलब्ध होने वाले सीमित रूपों और व्यापारों में ढूंढना व्यर्थ है। वस्तुतः समस्त रूप और व्यापार

सृजनात्मक चेतना के साथ सम्पर्क में आकर ही अर्थ-सम्पन्न होते हैं। साहित्य का जगत् भी अर्थ-जगत् ही है जो साहित्यकार और सहृदय के व्यापार के कारण अस्तित्व में आता है। इस सृजनात्मक चेष्टा का पूर्ण समाधान जड़वादी सिद्धान्तों के अनुसार नहीं हो सकता। मार्क्स ने यह तो माना है कि एक बार अस्तित्व में आकर चेतना और कला एवं साहित्य एक प्रकार के स्वतन्त्र जीवन को प्राप्त कर लेते हैं और चेतना अपने ही व्यापार से परिवर्तन का विधान करने में समर्थ हो जाती है—परन्तु ऐसा मान लेने से भौतिकता का आद्य महत्त्व लुप्त हो जाता है। वस्तुतः हम ने न तो जड़तत्त्व को देखा है न प्राण तत्त्व को और न ही मनस्तत्त्व को—हमारा अनुभव तो भौतिक प्राणिक और बौद्धिक व्यापारों का ही है। कोई कारण नहीं कि चेतना को आद्यतत्त्व और जड़तत्त्व को उसका कार्य क्यों न माना जाय।

साम्यवादी कला और साहित्य का उज्ज्वल पक्ष यह है कि इस ने 'आत्माभिव्यक्ति' की विडम्बना का खण्डन किया है। यह ठीक है आत्माभिव्यक्ति के औचित्य अनौचित्य का आधार इस बात पर है कि 'आत्मा' का क्या अर्थ लिया जा रहा है। परन्तु साधारणतया हमारा अभिप्राय यही रहता है कि काव्य और कला में हृदय की भंगुर वृत्तियां, उदश्रु भावुकता, और वेगमय परन्तु असंस्कृत राग और व्यक्तिगत जीवन की विचित्रताएं अभिव्यक्त होनी चाहिएं। परन्तु साहित्य और कला का मेरुदण्ड तो 'दर्शन' है। साम्यवाद की कला और साहित्य के मूल में यही 'दर्शन' है। 'दर्शन' से हमारा अभिप्राय कोरी बौद्धिकता से प्रसूत सिद्धान्त-निकाय नहीं, क्योंकि बौद्धिकता तो मनुष्य के व्यक्तित्व का एक अंश

है और स्वस्थ काव्य का स्रोत समग्र मानव है जिस में चेतना को 'हृदय' और 'बुद्धि' में विभक्त नहीं किया गया। 'दर्शन' और अस्वस्थ भावुकता से अस्थिर अथवा कोरी बौद्धिकता से विजडित व्यक्तित्व में विरोध है। साम्यवादी 'दर्शन' में जब 'दृश्य' भावना के साथ एकाकार हो जाता है तभी काव्य की प्रकृत भूमि अस्तित्व में आती है। हमारा विरोध तो इस धारणा से है जिसे साम्यवाद के कुच्छ पोषकों के आग्रह के कारण प्रोत्साहन मिला है कि मनुष्य की प्रकृति उसकी आर्थिक एषणा में ही पर्यवसित हो जाती है, अथवा मनुष्य केवल अर्थ—काम प्राणी है। जिस प्रकार मोक्ष के 'अभिप्राय' को ठीक प्रकार से न समझने पर जीवन के ऐहिक पक्ष को तिरस्कृत कर के उसे एकांगी बना दिया जाता है उसी प्रकार केवल अर्थ की साधना से भी मनुष्य की कुछ नैसर्गिक प्रवृत्तियों का अनादर होता है। हमारा अभिप्राय यह नहीं कि मार्क्स-वाद में अर्थ का वही अभिप्राय है जो भारतीय चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ काम, मोक्ष) के 'सदस्य' अर्थ का। परन्तु यह तो स्पष्ट है कि साम्यवाद में मानव के व्यक्तित्व को आर्थिक सम्बन्धों के संगम-स्थल के रूप में ही लिया गया है। मार्क्स इस बात को जानता है कि मनुष्य का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उस की आर्थिक सत्ता में ही पर्यवसित नहीं हो जाता परन्तु उस ने अपने चिन्तन का आधार-पीठ इस 'अर्थ-तत्त्व' को ही बनाया है।

वस्तुतः परिवेश का स्वरूप इतना सरल नहीं जितना कि साधारण मार्क्सवादी उसे समझ लेता है। परिवेश में केवल आर्थिक शक्तियां ही काम नहीं करतीं। आध्यात्मिक और साहित्यिक सांस्कृतिक परम्पराएं भी परिवेश का ही

अग. हैं, काव्यकार तो उस परम्परा से ही अधिक प्रभावित होता है जिस की विशिष्टताओं, प्रवृत्तियों, जीवन दर्शन और अभिव्यक्ति की भंगिमाओं का उस ने मनोयोग से अनुशीलन किया है। आज भी रीतिकाल की विशेषताओं को काव्य की मूर्धन्य परिणति समझने वाले और उसी के अनुकरण से कवि-प्रतिभा को सार्थक समझने वाले मिल सकते हैं। जहां रीतिकाल की परंपरा हमारे परिवेश का भी अंग है ऐसे कवियों के लिए वह अत्यन्त सजीव है और उनकी चेतना को सक्रिय करने वाली है। मार्क्स ने सैद्धान्तिक दृष्टि से यह स्वीकार किया है कि सांस्कृतिक संस्थाएं एक बार अस्तित्व में आकर एक प्रकार का स्वायत्त जीवन प्राप्त कर लेती हैं अर्थात् उन के समस्त व्यापारों और उपपत्तियों का व्याख्यान आर्थिक, सामाजिक दृष्टि से नहीं हो सकता। परन्तु न तो स्वयं उस ने और न उस के अनुगामियों ने इस स्वायत्तता की मात्रा निश्चित की है और न ही अपनी साहित्य-मीमांसा में इस तथ्य को याद रखा है। उन व्यक्तियों को जो साहित्य के क्षेत्र में मार्कसवादी के सिद्धान्तों से प्रेरणा ग्रहण नहीं करते प्रतिक्रियावादी कहना उतना ही महत्त्व रखता है जितना विधर्मियों को कफ़िर अथवा म्लेच्छ कहना।

सामाजिक आर्थिक सम्बन्ध हमारे परिवेश की समग्रता का एक अंश हैं। मनुष्य भौतिक प्रकृति और इतर प्राणियों के जगत् में अपने आप को पाता है। प्राकृत जगत् उस के परिवेश का अंग है। इसी प्रकार मानवों का जगत् साहित्य-कार के परिवेश का अंग है। जब मनुष्य इस परिवेश के सम्मुख होता है, उस के रूपों और व्यापारों के साथ उस की चेतना का आदान प्रदान होता है तभी उस के

हृदय में वे प्रश्न और समाधान उदय होते हैं जो विविध दर्शनों, धर्म-सम्प्रदायों और कला-कृतियों में मूर्त्त हो कर, उस का सांस्कृतिक कोष और दायाद्य बनते हैं। मनुष्य अपनी सृजनात्मक शक्तियों के कारण स्वयं इस परिवेश का विधाता है। वस्तुतः जीवन की सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों और अर्थ-व्यवस्था का सम्बन्ध इतना सरल नहीं जितना कि उसे मान लिया गया है। कारण-कार्य्य के सम्बन्ध में विज्ञान की जो धारणा है, समाजशास्त्रीय आलोचना साहित्य के क्षेत्र में उसे ही प्रयोजनीय मानती है। विज्ञान में परिस्थितियों का साम्य होने पर एक विशिष्ट कारण अव्यभिचारी रूप में विशिष्ट कार्य्य को ही जन्म देता है परन्तु यह निरपवाद सत्य है कि सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों का साम्य होने पर भी दो काव्यकार भिन्न भिन्न प्रकार के साहित्य का सृजन करते हैं। वस्तुतः साहित्यकार अपने समग्र परिवेश को प्रतिफलित करने में सफल नहीं हो सकता। वह उस की रूप और व्यापार—समष्टि में से कुच्छ रूपों और व्यापारों को चुन लेना है और अपनी सृजनात्मक प्रतिभा से उन्हें अपने विशिष्ट दृक्कोण, जीवन-दर्शन अथवा भाव-भंगी का वाहक बना देता है। जो अपने अजस्र, अनादि प्रवाह में निरर्थक है, इस प्रकार सीमित हो कर अर्थ-सम्पन्न हो उठता है। सारे परिवेश को आत्मसात् करना असंभव है क्योंकि परिवेश में मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों प्रकार के तत्त्व रहते हैं। जिस प्रकार एक मद्यप की और आत्मदर्शी की अनुभूतियों का समन्वय सम्भव नहीं उसी प्रकार परिवेश में विद्यमान सभी संघर्षी अथवा विरोधी तत्त्वों का सामंजस्य नहीं हो सकता। एक ही आर्थिक सामाजिक परिवेश में विषय-व्यासक्त लम्पट भी रहता है और वशी द्रष्टा भी,

अर्थ-काम, यशस्काम अहंवादी भी है और देश, समाज अथवा सत्य के लिए सब कुछ होम देने वाला बलिपन्थी भी, विज्ञान, प्रज्ञान की साधना भी है और घोर मूढग्राह भी। कलाकार इन विरोधी तत्त्वों और व्यापारों में से उन्हीं को ग्रहण करता है जो उस के मनः संस्कारों के साथ समंजस हो सकते हैं। और जिस सामंजस्य को वह प्राप्त करता है वह किसी न किसी आन्तर मानदण्ड के द्वारा ही निष्पन्न होता है। यह मानदण्ड बौद्धिक होने के कारण परिवेश से प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि यदि बुद्धि स्वतन्त्र चिन्तन में परिवेश के द्वारा बाधित होने के कारण असमर्थ है तो यह विचार भी कि बुद्धि असमर्थ है, परिवेश जनित होने के कारण सत्य होने का दावा नहीं कर सकता। कहने का अभिप्राय यह नहीं कि परिवेश में स्वीकृत मानदण्डों को ले कर चलने वाला साहित्य मिलता नहीं—आजकल तो साहित्य में प्रतिध्वनियां ही अधिक सुनाई देती हैं—परन्तु बुद्धि इन मानदण्डों को इस लिए स्वीकार नहीं करती कि वे लोक-प्रचलित हैं परन्तु इस लिए कि वे उसे सत्य प्रतीत होते हैं।

दो भिन्न संस्कारों वाले पड़ोसियों का परिवेश एक नहीं होता। वस्तुतः मानस संस्कार भी हमारे परिवेश के अंग हैं। अनिवार्यतः एक के लिए जो वास्तव है दूसरे के लिए तुच्छ है। कालिदास ने कहा है कि सुन्दरतम शरीर में भी मक्खी व्रण को ही ढूंढती है। उद्यान में जा कर भी शूकर मलिन पदार्थों की ही कामना करता है। यह हमारे संस्कारों पर निर्भर है कि परिवेश के कौन से तत्त्वों, रूपों और व्यापारों को हम आत्मसात् करेंगे। कबीर के समय में शृङ्गारी काव्य की—विशेषतः संस्कृत में—रचना हो रही थी

और रीतिकाल के मध्याह्न में भी सन्तों की परम्परा जीवित थी और सन्त काव्य का प्रणयन हो रहा था। साहित्य के इतिहासकार के लिए परिगणन और वर्गीकरण आवश्यक हो सकता है, वह बहुमत की ओर ध्यान देने के लिए विवश हो सकता है प्रवृत्तियों के बलाबल को आधार बना कर चलने से उस का कार्य आसान हो जाता है परन्तु इस का यह अर्थ नहीं कि साहित्य के इतिहासकार ने परिवेश का जो विवरण दिया है वह साहित्यकार केलिए सत् था। रीतिकाल के साहित्यकार के परिवेश में राज्य की दुर्मद विलासिता थी, शृङ्गार का उल्वण प्रदर्शन था, परन्तु उसी परिवेश में निःसन्देह सन्तों की साधना भी थी, मनीषियों का चिन्तन भी था, जिस परिवेश में रति के रहस्यों का अनावरण हो रहा था और अनंग के रंग की तरलता थी उसी में अध्यात्म-परंपरा का साहित्य भी था और रामायण और भागवत का पारायण भी। जिस प्रकार प्रत्येकयुग में सब प्रकार के मनुष्य मिलते हैं, उसी प्रकार मानव की नैसर्गिक प्रवृत्तियों को साकार करने वाली कला भी मिलती है। प्रवृत्तियों का प्राबल्य दूसरी बात है। किसी विशेष युग में किसी विशेष प्रवृत्ति का समाज और साहित्य में प्राबल्य हो सकता है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि प्रवृत्ति को प्रतिफलित करने वाला साहित्य साहित्य के रूप में भी वरेण्य हो। साहित्य की वरेण्यता किसी काल विशेष अथवा समाज विशेष का प्रतिनिधित्व करने में नहीं। जिस काव्य कृति का इसलिए अभिनन्दन हो रहा है कि उस का सम्बन्ध 'आज' से है, तो 'कल' के आने पर इसी कारण से वह स्थान—च्युत भी हो जायगी। जिस कृति का महत्त्व इस लिए है कि वह अमुक समाज का यथार्थ चित्रण करती है

तो भिन्न प्रकार के समाज में उस की अवहेलना भी हो सकती है। साहित्य की चिरन्तनता का कोई सन्तोषजनक समाधान समाज-शास्त्रीय आलोचना के अनुसार नहीं दिया जा सकता। उत्तम साहित्य मानव मन के सदातन तत्त्वों से जन्म लेता है और सदातन तत्त्वों को ही सम्बोधित करता है। इसी लिए रामायण और अभिज्ञान शाकुन्तल की महत्ता कालातिपात से कम नहीं हुई।

एक ही सामाजिक सन्दर्भ में एक ही विषय को लेकर चलने वाली दो काव्य कृतियों की सफलता, विफलता के कारणों को काव्यकार की मानस प्रभविष्णुता में ही देखना होगा। साहित्य का उपयोग सामाजिक तथ्यों के संचयन के लिए सावधान हो कर ही करना चाहिए। हम नहीं कह सकते कि जिस भावना ने किसी काव्य को जन्म दिया है उस का स्वरूप क्या था। वह "आदर्शोन्मुख" थी अथवा "यथार्थोन्मुख", वह अपनी परिस्थितियों की जड़ धातु पर कलई ही कर सकती थी अथवा अपने पारस-स्पर्श से उन्हें सोना बना देने की क्षमता रखती थी। हमें कबीर की कविता से परिवेश की ओर जाना चाहिये न कि परिवेश से कबीर की ओर। कबीर की कविता से ही उसके परिवेश की ओर जाने से हमें पता चलता है कि अपने परिवेश के किन अंशों को कबीर ने आत्मसात् किया, उस परिवेश के कौन से रूप और व्यापार उस के लिए सार्थक थे। दूसरे रूपों और व्यापारों की सत्ता इतिहासकार के लिए हो सकती है परन्तु कबीर की भावना के लिए नहीं।

जिस प्रकार मोर पर लिखी गई कविता से मोर से सम्बद्ध तथ्यों की अवगति प्राप्त करना हास्यास्पद है उसी प्रकार साहित्य से सामाजिक दृश्य से सम्बद्ध तथ्यों का

ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा व्यर्थ है। ऐसे तथ्य साहित्य में आ सकते है परन्तु उन के सत्यासत्य का निर्णय दूसरे सूत्रों से–राजनीतिक सामाजिक इतिहास से—प्राप्त सूचना के आधार पर ही होगा। साहित्यकार का व्यक्तित्व सामाजिक शक्तियों और व्यापारों की परिणति नहीं, परिवेश साहित्यकार का निर्माता नहीं साहित्यकार परिवेश की विविधता का द्रष्टा और व्यवस्थाता है। परिवेश के वे रूप और व्यापार जो उस के लिए अर्थ–गर्भित हैं, उस की अन्त-रात्मा में प्रवेश पा सकते हैं। वह सफल अभिव्यक्ति भी परिवेश की उन्हीं छबियों को दे सकता है जिन्हों ने उसके मर्म को छू लिया है। मनोविज्ञान की तरह समाजवाद भी साहित्य के अर्थ को समझने के लिए बाह्य मानदण्डों का प्रयोग करता है। समाजवादी परोक्ष (पृष्ठभूमि) के विश्लेषण में इतना खो जाता है कि प्रत्यक्ष कलाकृति को भुला देता है। रघुवंश के सौन्दर्य्य की अनुभूति उसे पढ़ने से ही होगी—उसकी पृष्भूठमि के अथवा युग के ज्ञान से नहीं। हम साहित्यकार के युग की पूर्ण अवगति प्राप्त कर के भी साहित्यिक कृति के सौन्दर्य्य की अनुभूति से वंचित रह सकते हैं। हो सकता है कि साहित्यकार का विषय पुरातन युग अथवा मध्यकाल से लिया गया हो परन्तु जिन मूल्यों के आलोक में उस ने अपने विषय को संदृब्ध किया है वे आधुनिक हों। अथवा उस की आस्थाएँ वैदिक युग की हो सकती हैं और विषय आधुनिक युग से लिया जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कलाकृति की पृष्ठभूमि अथवा उस की बौद्धिक अवगति प्राप्त कर लेने से ही समस्या हल नहीं हो जाती। कलाकृति जैसा कि हम ने

देखा है कई तत्त्वों का संग्रथन है और इस के संग्रथित सौन्दर्य्य को बौद्धिक ज्ञान अथवा सिद्धान्त में ही पर्यवसित नहीं किया जा सकता । साहित्यिक उक्ति की वक्रता अथवा साहित्यकार की सन्दर्भण कला की जटिलता जिन भंगियों को लिए रहती है वे बौद्धिक कथन की स्पष्टता और सरलता में नहीं समा सकतीं । समाजवादी समाजवाद के सिद्धान्तों से प्रेरित काव्य को प्रशस्त मान सकता है परन्तु इन सिद्धान्तों से प्रेरित दो कलाकृतियाँ साहित्यिक दृष्टि से सर्वथा विषम-गुण हो सकती हैं । कारण यही है कि साहित्य में सिद्धान्त तो सामग्री मात्र है– हम ने तो यह देखना है कि साहित्यकार की प्रतिभा इस सिद्धान्त में प्राण प्रतिष्ठा करने में कहां तक सफल हो सकी है । साहित्य में यह नहीं देखा जाता कि किसी व्यक्ति के विचार शास्त्र-सम्मत हैं अथवा उच्छास्त्र ! हमने तो यह देखना है कि समाजवादी विचार कलाकार की भावना के साथ एकरूप हुए हैं या नहीं । शास्त्र-गत आशय काव्य के आशय से भिन्न होता है । समाजवादी काव्य में हम केवल बौद्धिक आशय को नहीं देखते; हम उस भावना की ऊर्जा को देखते हैं जिस ने बौद्धिक आशय को प्राणों का स्पन्दन दिया है ।

साहित्यकार स्रष्टा है—इस का यह अर्थ है कि साहित्य और जीवन में बिम्ब—प्रतिबिम्ब का संबन्ध नहीं । साहित्य जीवन का पूरक भी है और उस के सत्य का निर्धारक भी । किसी भी कलाकर से यह मांग करना कि वह अपने युग का पूर्ण चित्र दे व्यर्थ है । हम पुरातन कलाकारों के पास उन के समकालीन समाज का चित्र देखने के लिए नहीं जाते । साहित्य का काम

सूचना देना नहीं और न ही सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक ज्ञान का संवर्धन है। साहित्य का अपना सत्य है परन्तु यह सत्य 'रिपोर्टर' का सत्य नही । जैसा कि हम ने अभी देखा है जो सामाजिक सत्य हमें साहित्य में मिलता है उस का प्रामाण्य दूसरे सूत्रों से निश्चित होता है। यदि हमारा अभिप्राय यह है कि कलाकार अपने युग की अर्थवत्ता, वास्तविकता को प्रतिफलित करे तो हमें यह भी याद रखना पड़ेगा कि जो एक कलाकार के लिए अर्थ-सम्पन्न है, वास्तव है, दूसरे के लिए तुच्छ और व्यर्थ हो सकता है। इस का अर्थ यह नहीं कि किन्हीं भी दो कलाकारों की युग-चेतना को एक धरातल पर रखा जा सकता है । प्रतिभाओं के वैषम्य को देख कर हम यह नहीं कह सकते कि सभी मनुष्य समान हैं । हम केवल यही कहना चाहते हैं कि कोई भी काव्य अपने युग का अविकल चित्र नहीं दे सकता और न ही साहित्यकार अपने युग का दर्पण बन सकता है। यदि युग अथवा परिवेश में केवल स्थूल तत्त्वों की सत्ता हो तो साहित्यकार दर्पण बनने की चेष्टा कर सकता है—परन्तु परिवेश में सांस्कृतिक मूल्यों जैसे अमूर्त्त तत्त्व भी हैं जिन का ग्रहण दर्पण के समान निश्चेष्ट बन कर नहीं सृजनशील बन कर ही हो सकता है। और यदि कलाकार के लिए सृजनशील होना अनिवार्य है तो वह दर्पण के समान निश्चेष्ट ग्राहक नहीं—विधायक है

भारतीय चिन्तन में 'सामाजिक मूल्यों' का स्वीकरण 'धर्म' के अन्तर्गत हुआ है । धर्म एक पुरुषार्थ है परन्तु परम पुरुषार्थ नहीं। परम पुरुषार्थ 'मोक्ष' 'आत्म-दर्शन'

है। मोक्ष धर्म अथवा सामाजिक चेतना का विरोधी नहीं उस की सहज परिणति है। भारतीय परंपरा सामाजिक चेतना को मानव विकास का चरम बिन्दु नहीं मानती, परन्तु उसे 'व्यक्ति-चेतना' से, अहंभाव से, उच्चतर स्थान देती है। सामाजिक चेतना अहंभाव और आत्मदर्शन का मध्यवर्त्ती तत्त्व है। ऐसा साहित्य जिस में परम पुरुषार्थ के प्रति मानव का हृदय निवेदित है उस साहित्य से किसी प्रकार भी कम महत्त्व नहीं रखता जिस में सामाजिक चेतना उपगीत रूप में हमारे समक्ष आती है।

हमारे सांशयिक युग में जीवन और जगत् के प्रति वह दृष्टिकोण लुप्त होता जा रहा है जिस के अनुसार सत्य और सुन्दर जड़-शक्तियों के संघर्ष-विघर्ष के परिणाम-मात्र नहीं विश्व के मूल तत्व के ही पर्यायशब्द हैं। मनुष्य भी कोई तुच्छ, अकाण्डजनित प्राणी नहीं जो इन जड़ शक्तियों के मन्थन से फेन अथवा चिनगारी के समान उत्पन्न हो गया हो। वह विश्व–रूपक के प्रणेता द्वारा विभावित इस नाटक का नायक भी है जो दुर्धर शक्तियों के साथ संघर्ष करता हुआ आत्म-दर्शन की ओर बढ़ रहा है। उस की चेतना विभु-तत्व है जिसे आर्थिक, सामाजिक व्यापारों और इतिहास की अतर्कित घटनाओं में ही निःशेष नहीं किया जा सकता। उस का एक उच्छीर्ष, अतिवर्त्ती रूप है जिस को भुला देने से इतिहास एक विशृङ्खल कथानक बन जाता है और सामाजिक व्यापार तुच्छ स्वार्थों का संघर्ष। मार्क्सवादी की सब से बड़ी भूल यह है कि वह मानव को सर्वथा अर्थ और काम के द्वारा विशेषित, काल-बद्ध प्राणी ही समझता है। मानव चेतना इतिहास और समाज में ही पूर्णतया चरितार्थ नहीं

होती। यदि महर्षि व्यास के अनुसार मनुष्य से बढ़ कर और कुच्छ नहीं (नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्) तो हमें यह पूछना चाहिए कि मानव का कौन सा रूप श्रेष्ठ है। मानव का वह रूप श्रेष्ठ नहीं जिस में वह इतर शक्तियों द्वारा शासित होता है । इस रूप में वह ऐतिहासिक, सामाजिक रङ्गमञ्च पर प्रगट होता है। यहाँ वह नियम्य है। मनुष्य का दूसरा रूप वह है जिस में वह नेपथ्यवर्त्ती, सूत्रधर प्रज्ञा के साथ एकाकार होकर नियन्ता, भावयिता बन जाता है। यही उस का 'श्रेष्ठतर' रूप है। उत्तम साहित्य मानव के इसी रूप का स्मारक, साक्षी, स्रष्टा और स्तोता है।

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११	नीचे से ५	प्रातद्वन्द्वियों	प्रतिद्वन्द्वियों
२९	ऊपर से १२	अनुभूति	अनुभूत
४२	ऊपर से १५	मम	मद्
४८	ऊपर से १०	प्रभाव	अभाव
५४	नीचे से ४	अमुख	अमुक
७६	ऊपर से १२	यदि	याद
८४	नीचे से २	प्रबान्ध	प्रबन्ध
८८	ऊपर से ४	धातु-पाक	धातु-परक
८९	नीचे से ९	सहवर्त्तीनी	सहवर्त्तिनी
१२९	नीचे से ३	बहित	बृंहित
१३२	ऊपर से ८	पुरुषार्थी	पुरुषार्थों
१९३	ऊपर से ३	धारणाओं पर	धारणाओं से